

दार्शनिक त्रैमासिक

वर्ष १०

जनवरी १९६४

अंक १

सम्पादक:

यशदेव शल्य

सम्पादक मंडल:

प्रो. न. कि. देवराज

डा. अ. ग. जावडेकर

डा. राजेन्द्र प्रसाद

विषय सूची

लेख	लेखक	पृ. सं.
१. आधुनिक भौतिक विज्ञान में कार्य-कारण तथा अनिश्चितता के नियमों के दार्शनिक चिंतन ...	डा. अजित कुमार सिन्हा	१
२. क्या मानव समाज का संगठन अहिंसा के आधार पर संभव है ? ...	रामजी सिंह	७
३. एक दार्शनिक सन्देहवादी की युक्ति ...	लक्ष्मीकान्त	१६
४. बाह्य पदार्थों की अनुमेयता और अभिनवगुप्त ...	नवजीवन रस्तोगी	२७
५. भारतीय दृष्टिभ्रम सिद्धान्तों का आलोचनात्मक अध्ययन ...	एल. पी. एन. सिन्हा	३६
६. प्रत्यक्ष की वेदान्तीय परिभाषा ...	नारायण शास्त्री द्राविड	४७
७. भारतीय दर्शन में निराशावाद—एक मूल्यांकन ...	कार्यानन्द शर्मा	६५
८. धार्मिक जीवन और श्रद्धा ...	मधुसूदन प्रसाद	६६
९. पुस्तक-समीक्षा	७५

अखिल भारतीय दर्शन परिषद्

वार्षिक शुल्क १०=००

एक अंक का मूल्य ३=००

दार्शनिक त्रैमासिक

वर्ष १०

जनवरी १९६४

अंक १

आधुनिक भौतिक विज्ञान में कार्य-कारण तथा अनिश्चितता के नियमों के दार्शनिक तात्पर्य

डा. अजित कुमार सिन्हा

न्यूटन इस बात को मानते थे कि भौतिक जगत् के विभिन्न घटना-चक्र में कार्य-कारण का सम्बन्ध है। उनके अनुसार, यदि हमें भौतिक पदार्थ के किसी भी अंश के बारे में पूर्ण ज्ञान हो तो उसके भूत और भविष्य की अवस्थाओं के बारे में पूर्ण ज्ञान हो सकता है। अर्थात् यदि हमें किसी परमाणु की किसी स्थान विशेष पर अवस्थिति (position) तथा उसके वेग (velocity) का ज्ञान हो तो हम उसके भूत और भविष्य की अवस्थाओं को, गति के नियमों (laws of motion) को, प्रयोगपूर्वक जान सकते हैं। न्यूटन महोदय का भौतिक विज्ञान कार्य-कारण नियमों पर आधारित था। उनके भौतिक विज्ञान के मूल सिद्धान्तों का प्रभाव उनके समकालीन तथा परवर्ती दार्शनिकों पर भी बहुत अधिक पड़ा। उनके युग में अधिकतर वैज्ञानिक तथा दार्शनिक कार्य-कारण नियमों पर पूर्ण विश्वास रखते थे।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में भौतिक विज्ञान में अनेक नई बातों का आविष्कार हुआ। न्यूटन के भौतिक विज्ञान के अनेक मूल सिद्धान्तों को नवीन वैज्ञानिकों ने असिद्ध प्रमाणित करके भौतिक विज्ञान को नये सिद्धान्तों पर स्थापित किया। रदरफोर्ड परमाणु को विभाजित करने में समर्थ हुए और वे इस बात को सिद्ध कर सके कि एक परमाणु के विभिन्न अंश अत्यन्त सूक्ष्म हैं। रदरफोर्ड तथा नील्सबोर ने परमाणु की बनावट की सौर्य जगत् से तुलना की है। इन वैज्ञानिकों ने सिद्ध किया है कि प्रकाश बिन्दु (light quanta) परमाणु के विद्युत्कण द्वारा निःसृत होते हैं। उन्होंने इस बात की भी खोज की कि प्रकाश बिन्दुओं का मिश्रण कार्य-कारण नियमों के अनुसार नहीं होता। इन्हीं दिनों में मैक्स प्लैंक ने स्तोक भौतिकी (क्वान्टम फिज़िक्स) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इनका मत है कि हर एक भौतिक पदार्थ प्रकाश

निस्सरण करने में समर्थ है। प्रकाश बिन्दु एक दूसरे से अलग अलग होते हैं परन्तु कोई भी प्रकाश बिन्दु कार्य-कारण नियमों के अनुसार व्यवहार नहीं करता। भौतिक विज्ञान में जिस समय किसी पदार्थ की भावी अवस्थाओं पर विचार किया जाता है उस समय किसी विशेष प्रकाश बिन्दु के व्यवहार को ध्यान में रखने हुए विचार नहीं किया जा सकता, अपितु अनेक प्रकाश-बिन्दुओं को ध्यान में रखते हुए उनकी भावी अवस्थाओं के बारे में विचार किया जाता है। मैक्स प्लैंक ने न्यूटन महोदय के कार्य-कारण के सिद्धान्त का विरोध विशेष रूप से किया। उन्होंने कहा कि स्तोक भौतिकी (क्वांटम फिज़िक्स) में सम्भावना के नियम (law of probability) न्यूटन के कार्य-कारण नियमों का विरोध नहीं करते अपितु समर्थन करते हैं। आईंस्टाइन ने भी कार्य-कारण नियमों का विरोध नहीं किया अपितु समर्थन किया है, उन्होंने कहा है कि स्तोक सिद्धान्त में सम्भावना का नियम (laws of probability) कुछ सीमा तक सत्य तो है पर यह भौतिक तत्व के बारे में पूर्ण ज्ञान नहीं देता। उनका यह विश्वास था कि भौतिक तत्व कार्य-कारण नियमों के अनुसार व्यवहार करता है और उन्होंने आशा प्रकट की थी कि सम्भवतः भविष्य के वैज्ञानिक इस सत्य को सिद्ध कर पायेंगे। आईंस्टाइन स्पिनोज़ा के दर्शन से बहुत प्रभावित थे। किन्तु वे स्तोक सिद्धान्त के कुछ दार्शनिक मन्तव्यों से सहमत न थे। उन्होंने स्तोक सिद्धान्त के सम्भावनावاد का समर्थन नहीं किया। वे इस दार्शनिक सिद्धान्त को स्वीकार करने को प्रस्तुत न थे जोकि इस बात को सिद्ध करने का प्रयास करता है कि ईश्वर श्रुत कीड़ा का खिलाड़ी है और उसे इस बात का कोई पूर्व ज्ञान नहीं है कि छक्के में कौन सा नम्बर आने वाला है। उनके कहने का तात्पर्य यह था कि भौतिक तत्व के अन्तिम विश्लेषणों द्वारा हम यह नहीं कह सकते कि उप-परमाणु (sub-atomic particles) आदि के व्यवहार बिना किसी कारण से होते हैं। स्तोक सिद्धान्त में संयोग का सिद्धान्त (law of chance) केवल मात्र हमारे ज्ञान-मीमांसा के सीमित प्रयोग की ओर संकेत करता है। संयोगवाद अथवा सम्भावनावاد (law of chance or law of probability) भौतिक तत्व के मौलिक दार्शनिक सिद्धान्तों पर प्रकाश नहीं डालते। आईंस्टाइन अपने जीवन के अन्तिम दिनों तक केवल यह आशा प्रकट करते रहे कि भविष्य में कोई न कोई वैज्ञानिक यह सिद्ध करने में सफल होगा कि भौतिक पदार्थ के व्यवहार कार्य-कारण नियमों द्वारा निर्धारित होते हैं। परन्तु आईंस्टाइन किसी विशेष प्रमाण द्वारा अपने इस विचार को सिद्ध न कर सके। कार्य-कारण नियमों के प्रति उनका मोह मात्र था।

हाईसेन बर्ग ने एक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिसे स्तोक यांत्रिकी कहा जाता है। उन्होंने अपने भौतिक विज्ञान में अनिश्चितता के सिद्धान्त (Principle of Indeterminacy) के आधार पर यह निश्चित रूपेण सिद्ध कर दिया कि उप-परमाणु जगत् (sub-atomic world) कार्य-कारण के नियमों द्वारा निर्धारित नहीं होता। आधुनिक भौतिक विज्ञान के दृष्टिकोण से हम एक ही समय में परमाणु को वेग और अवस्थिति (velocity and position) को नहीं जान सकते। यदि हमें किसी परमाणु के स्थान विशेष पर होने के

बारे में अपेक्षा-कृत स्पष्ट ज्ञान हो तो हमारा उसके वेग के बारे में ज्ञान अस्पष्ट होता है, और यदि हमें उसके वेग का पता हो तो उसकी स्थिति के बारे में ज्ञान अस्पष्ट रहता है। अतः किसी भी समय परमाणु की अवस्थिति (Position) तथा वेग (Velocity) के बारे में सही ज्ञान प्राप्त करना असम्भव है।^{१२} स्तोक यांत्रिकी (क्वान्टम मेकेनिक्स) का यह सिद्धान्त बहुत महत्वपूर्ण है। आधुनिक भौतिक विज्ञान के दृष्टिकोण से इस बात को वैज्ञानिक प्रायः स्वीकार करते हैं कि उप-परमाणु जगत् के अध्ययन में कार्य-कारण नियमों का प्रयोग नहीं किया जा सकता। यह कहना ठीक न होगा कि हाइसेन बर्ग के भौतिक विज्ञान में अनिश्चितता के सिद्धान्त का अर्थ है वैज्ञानिक ज्ञानमीमांसा के प्रयोग को सीमित कर देना। अनिश्चितता का सिद्धान्त इस बात को और निर्देश करता है कि उप-परमाणु जगत् में एक प्रकार की स्वतः प्रवृत्ति होती है। परमाणु तथा अन्य प्रकार के उप-परमाणु कार्य-कारण नियमों का सदैव उल्लंघन करते हैं। अनिश्चिततावाद भौतिक जगत् के बारे में केवलमात्र वास्तविक सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता। यह एक मौलिक दार्शनिक सत्य भी है। यह भी प्रतीत होता है कि जहां तक भौतिक जगत् का सम्बन्ध है, स्तोक यांत्रिकी के इस अनिश्चितता के सिद्धान्त को सदा के लिए हमें स्वीकार करना पड़ेगा। अनिश्चितता का सिद्धान्त वैज्ञानिक ज्ञानमीमांसा में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

कुछ दार्शनिकों तथा वैज्ञानिकों ने हाइसेन बर्ग महोदय के अनिश्चितता के सिद्धान्त की आलोचना की है और उनका यह कहना है कि भौतिक जगत् की घटनाओं के अध्ययन में कार्य-कारण सिद्धान्त अर्थ विहीन नहीं समझा जा सकता। कुछ दार्शनिक यह विचार भी रखते हैं कि उप-परमाणु जगत् में भी घटनायें एक दूसरे से कार्य-कारण भाव से सम्बन्धित होती हैं, किन्तु घटनायें ऐसी भी हैं जिनमें कार्य-कारण भाव सम्बन्ध नहीं पाया जाता और तात्कालिक प्रयोजन से स्तोक भौतिकी में अनिश्चितता का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है।

श्री नारथ्रोप ने कहा है कि अनिश्चितता के सिद्धान्त को अधिक महत्व इसलिए नहीं दिया जा सकता क्योंकि इसको पूर्णरूपेण स्वीकार करने पर विज्ञान को अनिश्चितता की नींव पर स्थापित करना होगा।^{१३} परन्तु यह मानी हुई बात है कि विज्ञान निश्चितता, अर्थात् कार्य-कारण सिद्धान्त की, पक्की नींव पर आधारित है। नारथ्रोप इस विचारधारा को इसलिए स्वीकार नहीं कर सकते क्योंकि कार्य-कारण का सिद्धान्त आज असिद्ध हो चुका है तथा भौतिक विज्ञान अनिश्चितता के सिद्धान्त पर आधारित है।

कुछ वैज्ञानिकों ने कहा है कि भौतिक जगत् की घटनाओं का ठीक ठीक अध्ययन करने के लिए कार्य-कारण के नियम तथा सम्भावना के नियमों में समन्वय होना चाहिए। इन दोनों विरोधी नियमों में समन्वय करना एक जटिल समस्या है। श्री पौपर ने कहा है कि उप-परमाणु जगत् के अध्ययन में अनिश्चितता के नियम का प्रयोग होता है और स्थूल वस्तुओं सम्बन्धी अध्ययन में कार्य-कारण नियमों का। इन दोनों के बीच दो विरोधी भाव हैं, उसे दूर करना कठिन होगा।^{१४} हम व्यावहारिक जीवन में भौतिक जगत् की घटनाओं को सदैव कार्य-कारण नियमों द्वारा स्पष्ट करते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से भी इस प्रकार की व्याख्या में कोई दोष

नहीं है। परन्तु यह बात भी सिद्ध हो चुकी है कि उप-परमाणु जगत् में घटनायें सम्भावना के नियमों द्वारा निर्धारित होती हैं। अतः यह बात हमको स्वीकार करनी ही पड़ेगी कि इस जगत् की समस्त घटनायें कार्य-कारण नियमों द्वारा निर्धारित होती हैं। स्तोक यांत्रिकी के क्षेत्र में अनेक नवीन तथा क्रान्तिकारी तथ्यों के आविष्कार होने के कारण आधुनिक दर्शन के बहुत से मतव्यों पर फिर से विचार करना होगा। इस विचारधारा में कार्य-कारण सिद्धान्त का कोई स्थान नहीं है। इसके स्थान पर सम्भावना के नियमों को स्थायी रूप से स्वीकार कर लिया गया है। स्तोक यांत्रिकी में द्रव्य कण (particle) के वेग और उसके भावी व्यवहार के बारे में भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। अधिक से अधिक भौतिक प्रदार्थ के एक द्रव्य कण की भावी अवस्थाओं के बारे में हम केवल अनुमान भर लगा सकते हैं, परन्तु निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकते।^{१५} हैन्स राइखेन्बैक का कहना है कि आधुनिक विज्ञान की ज्ञानमीमांसा के अनुसार परमाणु की भावी अवस्थाओं के बारे में भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। वह कार्य-कारण के नियमों का उल्लंघन करता है।^{१६}

अल्फ्रेड लान्डे ने कहा है कि क्योंकि नयी ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से कार्य-कारण के नियम सदा के लिए असिद्ध प्रमाणित हो चुके हैं अतः प्रकृति में इसके प्रच्छन्न चिह्नों को खोजना निष्प्रयोजन होगा।^{१७}

न्यूमन ने कहा है कि सम्भवतः भविष्य में अब कभी भी कार्य-कारण नियमों का प्रयोग उप-परमाणु जगत् में नहीं किया जा सकेगा। मैक्स बोर्न ने भी इसी मत का समर्थन किया है और इस बात पर बल दिया है कि स्तोक यांत्रिकी ने अनिश्चिततावाद में स्थायी स्थान बना लिया है।^{१८} और यही कारण है कि परमाणु का वेग तथा उसकी स्थिति के बारे में निश्चितरूपेण भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। स्तोक यांत्रिकी का मूल आधार अनिश्चितता सिद्धान्त है।

वर्तमान काल में मैरिबो बूंगे सबसे अन्तिम हैं जिन्होंने स्तोक यांत्रिकी के अनिश्चिततावाद का घोर खंडन किया है और कार्य-कारण नियमों की पुनर्स्थापना का प्रयास किया है। इनका मत है कि कार्य-कारण के नियम तो सार्वभौम हैं और उनका प्रयोग प्रकृति के प्रत्येक पहलू में किया जाता है। कार्य-कारण भाव विश्वव्यापी होने के कारण ही विश्व के प्रत्येक अंश में हम एक नियम व्यवस्था पाते हैं। यह विश्व नियमबद्ध इसलिए है कि जगत् की सारी घटनायें कार्य-कारण नियमों द्वारा निर्धारित होती हैं। बूंगे का विचार है कि यदि मैक्स बोर्न का सर्वव्यापी अनिश्चिततावाद सत्य होता तो समग्र विश्व नियमबद्ध न दिखाई देकर नियम-विहीन दिखलाई पड़ता। उन्होंने कुछ ऐसे वैज्ञानिकों के मत का समर्थन किया है जो स्तोक यांत्रिकी के अनिश्चिततावाद का विरोध करते हैं। बूंगे, डेविड-बोहम के मत का समर्थन करता है जिसने कि तरंग यांत्रिकी (wave mechanics) को केवल स्तोक यांत्रिकी (particle mechanics) के शब्दों में स्पष्ट करने का यत्न किया है।^{१९} डेविड बोहम का वैज्ञानिक सिद्धान्त आज के युग में कोई महत्त्व नहीं रखता जबकि हर प्रकार की भौतिक घटनाओं को तरंग (wave) तथा स्तोक (particle) के द्वारा स्पष्ट

किया जाता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मैरियो बूगे ने अपने सिद्धान्त को एक अशुद्ध वैज्ञानिक सिद्धान्त के ऊपर स्थापित करने का प्रयत्न किया। इन्होंने कार्य-कारण के सिद्धान्त का समर्थन करने के लिए जो तर्क दिये हैं वे ही अत्यन्त दुर्बल हैं। इनके विचार में सबसे बड़ी कमी यह है कि इन्होंने स्तोक यांत्रिकी के अनिश्चितता के सिद्धान्त को, जो आज सत्य सिद्ध हो चुका है, कोई महत्व नहीं दिया। इनका कार्य-कारण के नियमों द्वारा भौतिक जगत् की व्याख्या करने का प्रयास निष्फल रहा है।

अन्त में मैं इस आलोचना से अपने निष्कर्ष निकालते हुए यह कहना चाहता हूँ कि भौतिक विज्ञान मानव ज्ञान से किसी प्रकार भिन्न तथा वियुक्त नहीं कहा जा सकता। यह बात तो हम सब स्वीकार करते हैं कि आधुनिक भौतिक वैज्ञानिकों ने भौतिक पदार्थ की विशेषताओं पर जो नया प्रकाश डाला है दर्शन में उसका बड़ा भारी महत्व है।^{१०} आधुनिक विज्ञान के नये आविष्कारों का ज्ञानमीमांसा तथा तत्वमीमांसा पर अत्यधिक प्रभाव है।^{११} मेरा ऐसा विचार है कि विश्व के समग्र स्वरूप की सम्यक् व्याख्या देने के लिए कार्य-कारण के नियम तथा सम्भावना के नियमों का समन्वय करने का प्रयास अत्यन्त आवश्यक है। विश्व को ठीक ठीक समझने के लिए हमें कार्य-कारण तथा अनिश्चितता के सिद्धान्तों के बीच सामंजस्य स्थापित करना होगा।^{१२}

मेरा मत है कि विश्व के प्रत्येक पहलू में स्थायित्व लाने वाला सिद्धान्त कार्य-कारण के नियमों द्वारा निर्धारित होता है जबकि सृजनात्मक पहलू के लिए यद्विच्छा तथा अनिश्चितता के नियमों की आवश्यकता होती है। मेरा विश्वास है कि विश्व में नये नये मूल्यों का सृजन होता रहता है। सृजन शक्ति ही विश्व का मूल है। इसलिए मेरा यह मत है कि इस विश्व में यद्विच्छा तथा अनिश्चितता के नियमों का प्राधान्य है। कार्य-कारण भाव का विश्व में गौण स्थान है। सृजन-शक्ति का निरन्तर प्रवाह विश्व के प्रत्येक पहलू को उद्देश्य-पूर्ण निर्देश देता है। मैं समझता हूँ कि इस समस्या को अनुभव करते हुए ही मिलने ने भौतिक जगत् के क्रमविकास में काल (time) को बड़ा भारी महत्व दिया है। मेरे मत में काल सृजनात्मक प्रवाह का एक अंग है।^{१३} मेरा विश्वास है कि सृजन शक्ति के सिद्धान्त को कार्य-कारण भाव के अन्तर्गत करना उचित है। मैं समझता हूँ कि कार्य-कारण तथा अनिश्चितता के विरोध को इस प्रयोग द्वारा दूर किया जा सकता है। विश्व की समस्त घटनाओं की सही व्याख्या सृजन शक्ति के सिद्धान्त से ही की जा सकती है। सृजन शक्ति ही किसी भी जीवित प्राणी अथवा भौतिक पदार्थ के व्यवहार में यद्विच्छा तथा अनिश्चितता का कारण होती है। यह मूल सिद्धान्त ही किसी भी प्रकार के अस्तित्व को उद्देश्य पूर्ण बनाता है। स्तोक भौतिकी का मुख्य दोष यही है कि वह भौतिक जगत् को व्याख्या मुख्यतः यांत्रिक (mechanistic) दृष्टि से करता है। मेरा मत है कि यदि हम स्तोक यांत्रिकी को स्तोक सांद्देश्यतावाद (quantum teleologies)^{१४} के विज्ञान में रूपान्तरित कर दें तो उस स्थिति में हम कार्य-कारण तथा अनिश्चितता के सिद्धान्तों में समन्वय ला सकेंगे।

भविष्य के वैज्ञानिक तथा दार्शनिक यदि इस विषय पर, जैसाकि मैंने प्रस्तुत किया, इस दृष्टि से चर्चा करें तो मेरी धारणा है कि अनेक जटिल समस्याओं का सम्भवतः समाधान किया जा सकेगा ।

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय

REFERENCES

1. Heisenberg, W., Philosophical Problems of Nuclear Physics, p. 86.
2. Heisenberg, W., The Physical Principles of Quantum Theory, p. 20.
3. Northrop, F.S.C., Science and First Principles, P. 135.
4. Popper, K.R., The Logic of Scientific Discovery, p. 247.
5. Heitler, W., "The Departure from Classical Thought", in Albert Einstein: Philosopher-Scientist, Edited by P.A. Schilpp, p. 189.
6. Reichenbach, H., Philosophic Foundations of Quantum Mechanics, p. 44.
7. Lande, A., 'Probability in Classical and Quantum Theory', Scientific Papers Presented to Max Born, p. 59.
8. Born, M., Natural Philosophy of Cause and Chance, p. 121.
9. Schlegel, R., 'Merio Bunge on Causality', Philosophy of Science, Vol. 28, 1, p. 79.
10. Sinha, A. K., Philosophical Aspect of Modern Physics, The University of Rajasthan Studies, 1958, p. 16.
11. Sinha, A. K., Social Philosophy, p. 2.
12. Sinha, A. K., A World-View Through a Reunion of Philosophy and Science, p. 61.
13. Sinha, A. K., Philosophical Implications of Modern Astronomy, The University of Rajasthan Studies, 1960, p. 67.
14. The term 'quantum teleologies' was first mentioned by F. S. C. Northrop in his introduction to W. Heisenberg's Philosophy and Physics, p. 22.

क्या मानव समाज का संगठन अहिंसा के आधार पर संभव है ?

रामजी सिंह

१. प्रश्न, परिप्रश्न और प्रश्न बोधः— अभी हाल में बिहार की पदयात्रा में जब मैंने आचार्य विनोबा से यह प्रश्न किया कि “क्या मानव समाज का संगठन अहिंसा के आधार पर संभव है ?” तो उन्होंने इसके उत्तर में मुझसे ही पूछा, “क्या मानव समाज का संगठन हिंसा के आधार पर भी संभव है ?” फिर स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा “आपका मूल प्रश्न ही वास्तव में उलटा है। यदि आप ऐसा प्रश्न करते कि “क्या बाघ, सिंह, भेड़िये आदि हिंस्र पशुओं का संगठन अहिंसा के आधार पर संभव है ? तो बहस की भी गुंजाइश थी।” इसका अर्थ यह हुआ कि विनोबा सदृश विचारक मनुष्य को स्वभाव से साधु मान बैठे हैं। लेकिन “मनुष्य स्वभाव से साधु है”—यह एक आदर्श वाक्य भी हो सकता है और यथार्थ वाक्य भी। जो भी हो, मानव-स्वभाव का प्रश्न मानव-शास्त्र का मूल-प्रश्न तो है ही, प्रस्तुत विषय का भी आधार-प्रश्न है। मानव-स्वभाव की हमारी कल्पना या धारणा हमारे जीवन-दर्शन को प्रभावित करती है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब यहूदी विचारधारा ने मानव को ईश्वर की प्रतिभा मान लिया तो उससे केवल यहूदी जीवन-दर्शन ही प्रभावित नहीं हुआ बल्कि यहूदी दर्शन से प्रभावित ईसाई एवं बहुत हद तक इस्लामी मतवाद भी प्रभावित हुए थे। इसी प्रकार आत्म-तत्त्व की कल्पना ने भारतीय-दर्शन को एक नयी मोड़ ही दे दी है। उसी तरह मानव-स्वभाव के प्रति नैतिक एवं सामाजिक आग्रह से चीन के ताओ और बौद्ध धर्म को एक नयी वास्तविकता मिली है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि मानव-स्वभाव का प्रश्न केवल समाज-दर्शन का ही प्राण-तत्त्व नहीं है, यह सम्पूर्ण दर्शन का भी आधार तत्त्व है। दर्शन का वास्तविक अर्थ जीवन-दर्शन ही माना जाना चाहिए और जीवन-दर्शन का मेरुदंड मानव-प्रकृति का अध्ययन है। दर्शन के सभस्त शृंगार मानव केन्द्रित होंगे। सत्य एवं मूल्य भी मानव के सन्दर्भ में ही सार्थक होंगे।

२. मानव स्वभाव : प्रश्न का प्राणतत्त्वः— दुर्भाग्य से “मानव-स्वभाव” के विषय में हम प्रायः सभी विराट् दार्शनिक परम्पराओं में तटस्थ वैज्ञानिक वृत्ति से किये गये विश्लेषण का नितान्त अभाव ही पाते हैं। इस सम्बन्ध में दार्शनिकों की दृष्टि मुख्यतः आदर्शमूलक और आध्यात्मिक रही है। विभिन्न दर्शनों की विभिन्न परम्परायें हैं। यूनानी दर्शन का प्रयोजन

मनुष्य को बुद्धिमान बनाना था जबकि चीनी परम्परा मानव को नीतिमान बनाने पर जोर देती है। भारतीय परम्परा में दर्शन का एक विशेष प्रयोजन रहा है, वह है जीव और ब्रह्म का साक्षात्कार, जिसे मोक्ष भी कहा जाता है। यहूदी विचारक मानव को यह अवगत कराना चाहते हैं कि ईश्वर भी मानव-कल्याण में अभिरुचि रखता है। इसीलिये जहाँ यूनानी दर्शन में आदर्श मानव को विद्यानुरागी, चीनी परम्परा में आचारवान् साधु, भारतीय दृष्टि में आत्मतत्त्व माना गया है वहाँ यहूदी विचारकों ने आदर्श मानव को भगवान की प्रतिमा स्वीकार कर उसके जीवन में आदर्श सद्गुणों का समावेश किया है। लेकिन आदर्श मानव चाहे जैसा भी कल्पित किया गया हो, यथार्थ—मानव के वास्तविक स्वरूप का अध्ययन परमावश्यक है। नीति शास्त्र का इतिहास इस बात का साक्ष्य है कि बिना किसी दैवी या ईश्वरीय गुणों का आरोप किये भी मानव-प्रकृति के आधार पर आचार-शास्त्र का निर्माण किया गया है। मानव स्वभाव का स्थूल अर्थ है उसका मनोदैहिक स्वरूप। सोफिस्टों एवं कुछ अंश में सुक्रात को छोड़ कर यूनानी विचारक प्रायः मानव के इस मनोदैहिक स्वरूप का निष्पन्न वैज्ञानिक अध्ययन करने के बदले एक नवीन जीवन-दर्शन के विकास की प्रक्रिया में संलग्न थे। किन्तु, चूँकि मानव समाज में रहता है, और यह मानव-समाज भी तो विराट् विश्व का ही अंशमात्र है, इसलिये जगत् को समझने के अन्वेषण क्रम में ही मानव-प्रकृति का भी अध्ययन हुआ। अतः मानव-स्वभाव की कोई स्वतंत्र चर्चा अपेक्षित नहीं समझी गयी। यहूदी विचारकों ने मानव को विश्व की विशालता में विलीन तो नहीं किया किन्तु उसे ईश्वर-अंश मानकर उसके मनोदैहिक पक्ष के अध्ययन के साथ उसी प्रकार अन्याय किया। चीनी चिंतनधारा में प्राक्-कन्फ्यूशियस विचारकों ने मानव को देव-अंश मानकर उसमें देवत्व का आरोप करते हुए उसके स्वभाव को नैतिक उद्घोषित किया किन्तु महात्मा कन्फ्यूशियस की यथार्थवादिता ने मानव-प्रकृति में सामाजिक-तत्त्व का आरोप करते हुए व्यवहार में उसे आत्म-केन्द्रित एवं व्यक्तिवादी बनाया। भारतीय परम्परा में उपनिषद्-तत्त्वज्ञान ने पंचकोष की कल्पना के अनुसार मानव-प्रकृति के आध्यात्मिक-मनोदैहिक पक्ष की ओर संकेत किया है। किन्तु बौद्ध विचारकों ने पंच-स्कन्ध के आधार पर कुछ दूसरी ही कल्पना की है। मीमांसा-दर्शन के अनुसार मानव-स्वभाव का सार कर्म है। (कर्ममय पुरुषः)। संक्षेप में, उपनिषद्, सांख्य, योग एवं वेदान्त के अनुसार मानव आध्यात्मिक-मनोदैहिक तत्त्व है जबकि न्याय-वैशेषिक-मीमांसा के अनुसार मानव को मूलतः केवल मनोदैहिक तत्त्व ही माना गया है, क्योंकि आत्मा में तो पूर्ण अज्ञान एवं अचेतना ही है। इस तरह हम देखते हैं कि भारतीय चिंतनधारा में मूलतः मानव को आत्म-तत्त्व माना गया है चाहे आत्म-तत्त्व के स्वरूप के विषय में भले ही विभिन्न विचार क्यों न हों। इसी तरह दार्शनिक जिज्ञासा का पर्यवसान धार्मिक जीवन-दर्शन में होता है।

आध्यात्मिक विचारक प्रायः मानव को स्वभाव से दोष-मुक्त मानते हैं, क्योंकि जीवात्मा परमात्मा से या तो अभिन्न है, जैसा वेदान्त या उपनिषद् में माना गया है, या फिर जीवात्मा को परमात्मा का ही एक अंश मान लिया गया है।

यदि हम सामान्य दार्शनिक दृष्टि से विचार करें तो सत्कार्यवाद का आलम्बन लेकर हम यह कह सकते हैं कि यदि मानव-स्वभाव में अच्छाईयां अन्तर्निहित नहीं हैं तो फिर अच्छाईयों का स्वप्न देखना ही व्यर्थ है। *Ex nihil nihil fit* न सते विद्यते भावो न भावे विद्यते सतः। यदि मानव को स्वभाव से ही दुष्ट मान लिया जाय तो उसके शिक्षण एवं परिष्करण की सम्पूर्ण प्रक्रिया ही व्यर्थ सिद्ध होगी। यहीं हम मनोविज्ञान का सहारा लेकर मैकडूगल के आत्म रक्षात्मक मूल्य प्रवृत्ति के सिद्धान्त की चर्चा के क्रम में यह कह सकते हैं कि चूँकि कलह, पृथक्त्व, संग्रह आदि की मूल प्रवृत्तियां जन्मजात हैं इसलिये मानव की जन्मजात साधुता प्रमाणित नहीं होती। लेकिन जहां इस जीर्ण-शीर्ण मनोविज्ञान के मूल-प्रवृत्ति के सिद्धान्त के अनुसार हम मनुष्य में जन्मजात कलह-वृत्ति का आरोप करते हैं वहां शायद हम संघात्मक-मूल्य-प्रवृत्ति, दाम्पत्य मिलन, शिशु-रक्षण, आत्म-दमन आदि की मानव वृत्तियों को भूल जाते हैं। आज तो मनोविज्ञान की फ्रायडोत्तर भूमिका में मानव-स्वभाव को दुष्ट मानने का भी कोई आग्रह नहीं है। नव-फ्रायडवादी मनोवैज्ञानिक मनोविश्लेषण को जीव-शास्त्र के बदले समाजशास्त्र की भूमिका पर पुनर्गठन करने के लिये चिन्तित हैं।

एडलर की “जीवन शैली” एवं युंग के जातीय अचेतन के अन्तर्गत आत्म-रक्षण एवं ‘काम वृत्ति’ के बदले मनोविश्लेषण जगत् आज मनुष्य की सामाजिक-सांस्कृतिक वृत्तियों में अपना समाधान ढूँढने का प्रयास कर रहा है। इसीलिये तो जिस डार्विन के विकासवाद के अन्तर्गत “अस्तित्व-संघर्ष” से आविर्भूत “योग्यतम की रक्षा” आदि की दुहाई देकर मानव-स्वभाव को दुष्ट प्रमाणित किया जाता है उसी डार्विन ने नीति बल को शरीर बल एवं बुद्धि बल दोनों से ही श्रेष्ठ माना है। उदाहरण देते हुए उसने कहा है कि जो जातियां अनोतिवान् थीं वे आज नामशेष हो गयी हैं। सोडम एवं गमोरा का आज नामोनिशां नहीं। जो यूनान कभी योरु के बुद्धि वैभव का सम्राट् था जब उसने नीति का परित्याग किया तो उसकी बुद्धि ही उसकी दुश्मन हो गयी। यह ठीक है कि हिराक्लिटस, हीगल, डार्विन, मार्क्स आदि विचारकों ने संघर्ष को ही विकास की हरकत माना है, लेकिन जिस मार्क्स ने वर्ग-संघर्ष का एक समग्र जीवन-दर्शन रखते हुए द्वन्द्व को विचार-विकास का ही नहीं अपितु प्राथमिक-विकास का भी सूत्र माना उसको भी शायद मानव के अन्तर्निहित संभाव्य सद्गुणों में अटूट विश्वास था। मार्क्स ने तो शायद ईश्वर को भी इसलिये अस्वीकार किया कि उसे यह विश्वास था कि यदि परिस्थितियां अनुकूल बना दी जाँय तो इस पृथ्वी पर ही स्वर्ग का साम्राज्य स्थापित हो सकता है। यदि उसे मनुष्य की अन्तर्निहित दिव्यता में विश्वास नहीं रहता तो फिर उसके परिष्कार के सारे क्रांतिकारी प्रयास सैद्धान्तिक रूप से निरर्थक होते ही, व्यावहारिक रूप से भी असफल होते। इसीलिये या तो हमें यह स्वीकार कर लेना होगा कि यदि मनुष्य स्वभाव से दुष्ट है तो फिर कोई भी वैचारिक क्रांति संभव नहीं।

स्वभाव तो वह होता है जो नित्य ओर निरपवाद होता है, जिसका निराकरण नहीं हो सकता। यदि मनुष्य स्वभाव से दुष्ट होना तो उसका निराकरण भी नहीं होता। अतः यदि हम मार्क्स के अनुसार वर्ग-संघर्ष के आधार पर मनुष्य-स्वभाव में संघर्ष को एक

अवश्यम्भावी प्रक्रिया भी स्वीकार कर लें तो प्रश्न उठता है कि फिर माबर्स स्वयं इस संघर्ष का निराकरण क्यों करना चाहते हैं ? आज समाज के अन्दर चोरी, बटमारी, लड़ाई, दंगे, हत्याएँ आदि जब होती हैं तो हमारा प्रयास उनका निराकरण करने का होता है । यदि यही हमारा स्वभाव होता तो हम इनके निराकरण का क्यों प्रयत्न करते ? हम अपने सामान्य दैनिक अनुभव में भी यह देखते हैं कि हमें क्रूर कर्मों से स्वाभाविक रूप से कष्ट होता है । इन सब बातों से यह प्रतीत होता है कि हमारी सम्पूर्ण सामाजिक-राजनैतिक सांस्कृतिक व्यवस्था का मूलाधार मानव को स्वभाव से अच्छा मान लेने पर टिका हुआ है । राज्य शास्त्र के विकास क्रम में संसदीय-जनतन्त्र-प्रणाली की आधारशिला मानव-स्वभाव की साधुता के विश्वास पर ही टिकी हुई है । स्वस्थ जनतन्त्र सामान्य मनुष्य के विवेक एवं सद्बिचार पर तो आश्रित है ही साथ-साथ विरोधी-दलों की निष्ठा एवं आस्था में विश्वास भी इसका एक प्रमुख आधार स्तम्भ है । पुरातत्व विज्ञान के प्रागैतिहासिक ध्वंसावशेषों के अन्वेषणों से भी यह पता चला है कि उस समय भी सामाजिक जीवन या तथा उस समय अस्त्ररक्षा आदि के शास्त्रास्त्र नहीं थे । मानव-शरीर की रचना शाकाहारी प्राणियों जैसी ही है, इससे भी जीवन-निर्वाह के क्रम में प्रकट दुष्टता की संभावना अत्यल्प हो जाती है । यूनेस्को के तत्वावधान में मानव स्वभाव की खोजों के आधार पर प्रो. माटेग्यू ने यह बताया है कि मानव जन्म से आक्रमण या अपहरण करने आदि के दुर्भाव लेकर जन्म नहीं लेता । जिस दुर्भाव को आज हम मानव-स्वभाव में आरोपित करते हैं वह वास्तविक अर्थ में उसका जन्मजात स्वभाव नहीं बल्कि वातावरण से अर्जित विभावमात्र (Acquision habit) है । इसीलिये तो विविशास्त्र जैसे परिवर्तन विमुख, स्थिति-स्थापक शास्त्र के अन्तर्गत प्रायः सर्वसामान्य रूप से अपराधियों को दोषी मान लेने की अपेक्षा निर्दोष मान लिया जाता है, जिसे हम Benefit of doubt कहते हैं । यह कुछ और नहीं बल्कि मानव-स्वभाव की साधुता में आस्था की अभिव्यक्ति है । मानवीय सस्कृति के विकास का इतिहास, और विशेषकर मानवीय कल्याण के निमित्त विज्ञान का अनुपम योगदान मनुष्य के अन्तर्निहित सद्गुणों में विश्वास व्यक्त करता है । आचारशास्त्र की आधारशिला भी आत्म-स्वातन्त्र्य के साथ-साथ व्यक्ति के विवेक पर ही स्थिर है । नैतिकता का निर्धारण करने वाली हमारा ऐच्छिक क्रियायें हमारी विवेकबुद्धि पर ही आश्रित हैं । धर्म-शास्त्र की धारणा भी मानव-स्वभाव की आधारभूत साधुता पर ही टिकी हुई है । जीवन-दर्शन के दृष्टिक्रम में भी मनुष्य को स्वभावतः दुष्ट मान लेने में निखिल मानव जाति का अपमान तो है ही निराशावाद भी इसमें कमाल का है । इसीलिए यदि मानव-स्वभाव की दुष्टता का हम वस्तुस्थिति स्वीकार कर भी लें तो हमारा यह जीवन-सिद्धान्त या जीवन-दर्शन कदापि नहीं हो सकता ।

३. मानव समाज: विकास एवं उपलब्धि:-

मानवीय आचार संहिता की प्रयोगशाला का सर्वश्रेष्ठ आविष्कार शायद परार्थवाद ही माना जायगा । परार्थवाद के मूलाधार मानव-विवेक एवं मानव-साम्य की भावना ही हैं । मानवीय-चिंतन की दिशा सदैव ही उसको उसकी संकुचित परिधि से खींच कर बाहर ले जाने

क्या मानव समाज का संगठन अहिंसा के आधार पर संभव है? ११

का उपक्रम करती रही है। यदि ऐसा नहीं हुआ रहता तो शायद साहित्य, संस्कृति, कला आदि का भी विकास कुंठित ही रहता, आध्यात्मिक चेतना तो मृतप्राय रहती ही। प्राकृतिक नियम एवं वस्तुस्थिति ने मानव पर प्रभाव तो बहुत ही डाला है किन्तु अन्त में वह मानवीय आकांक्षाओं के सम्मुख पराजित ही हुआ है। इसका मूल कारण यह है कि वस्तुस्थिति जीवन-सिद्धान्त नहीं बन सकती। वास्तव में वस्तुस्थिति की सिद्धान्त की ओर प्रगति ही संस्कृति है। दूसरे शब्दों में “दूसरे के जीवन में शामिल होना और दूसरे को अपने जीवन में शामिल करना ही संस्कृति है।” अतः संस्कृति ज़िन्दगी की यह साझेदारी, यह शराकत यह तहजीब या कल्चर है। और यही तो परार्थवाद भी है। इसका अर्थ यह हुआ कि भारतीय संस्कृति के विकास-क्रम में उत्तरोत्तर सौम्य से सौम्यतर या सुन्दर से सुन्दरतर की परार्थवादी प्रक्रिया ही परिलक्षित होती है। इसीलिए तो प्राणिशास्त्र के क्रान्तिकारी प्रवर्तक डार्विन ने यदि *Survival of the fittest* का प्राकृतिक-सिद्धान्त उपस्थित किया तो परवर्ती प्राणीविज्ञान के अधिकारी जुलियन हक्सले ने *fitting the unfit to survive* (जो अक्षम हैं, उन्हें सक्षम बनाने) का विचार रखा। यानि हम *Live on others* “दूसरों को खाकर जीओ” की स्थिति से *live and let live* (जिओ और जीने दो) की अवस्था में आकर उसमें *Live for others* (दूसरों के लिये जिओ) की भव्य अवस्था में जाने को उद्यत हैं। वस्तुतः समाज व्यक्ति के केवल भौतिक अस्तित्व के लिये ही आवश्यक नहीं है बल्कि समाज का विधान भी मानव-स्वभाव के अनुकूल है। यहाँ वे लोग भी जीते हैं जो दूसरों को भी जीने देते हैं। वात्सल्य एवं दाम्पत्य के अतिरिक्त मानव-स्वभाव के अन्तर्गत सामाजिकता की भावना को देखकर ही अरस्तु ने मनुष्य को सामाजिक जीव माना है। कांट ने इसी को *Unsociable Sociableness of man* बताया है। फ्रायड ने इसी *ambivalence* को स्पष्ट करते हुए कहा है— “जिसके साथ हम शान्ति से नहीं जी सकते, किन्तु जिसके बिना हम जी ही नहीं सकते”। मूल प्रवृत्ति के सिद्धान्त स्थापक मनोवैज्ञानिक मैकडूगल, ड्रेमर, टेन्सल आदि ने भी समूह-प्रवृत्ति (*Instinct of Gregariousness*) को माना है। समाज व्यक्तिगत कल्याण के लिये कितना आवश्यक है यह बताने की आवश्यकता नहीं। इसका एक स्थूल प्रमाण यह भी है कि आज समाजवाद का आन्दोलन जागतिक रूप धारणा कर दिनोदिन बढ़ ही रहा है। विभिन्न समाज-शास्त्रियों के अनुसार इसी सामाजिकता की भावना को ड्रेमर ने *worthwhileness*, गम प्लोविच ने *Syngenism*, कूली ने वयं-अनुभव गीडिंग्स ने जातीय चेतना तथा लीबान ने सामूहिक मन आदि कहा है। मानवीय सभ्यता के विकास-क्रम में क्रमशः जंगल मानव-समाज, बर्बर मानव-समाज और सभ्य मानव समाज आया है और सभ्य मानव-समाज भी क्रमशः दासता, सामन्तवादी एवं पूँजीवादी युगों को पार करता हुआ समाजवादी मानव समाज के युग में आ गया है। जे. सी. कुमारप्पा महोदय ने सभ्यता के परार्थवादी इतिहास क्रम को पाँच अवस्थाओं में दिखाया है। पहले पराश्रयी-अवस्था (*Predatory*) है जिसका प्रतीक बाघ है, जो दूसरों को खाकर जीता

है। फिर तत्स्कर-समाज (Parasitic) बना, जिसका प्रतीक बन्दर था। इन दोनों अवस्थाओं में बिना किसी श्रम के भोग (Consumption without Production) का नियम था। तीसरी अवस्था में उद्योगी (Enterprising) समाज बना जिसका प्रतीक पक्षी था, जिसने अपने घोंसले आदि बनाने का श्रमयुक्त जीवन विधान बनाया। चौथी अवस्था का प्रतीक मधुमक्खी है जिसका श्रम केवल अपने लिए ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण समाज के लिये भी होता है। अन्त में हम सेवा-युग (Service stage) में आते हैं जहाँ हमारा जीवन माता की तरह दूसरों के लिये ही समर्पित है। इस तरह हम देखते हैं कि मानव-समाज के विकासक्रम में उत्तरोत्तर अहिंसा का अधिकाधिक समावेश और हिंसा का क्रमिक निराकरण होता गया है। समाज एवं राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्तों में “शक्ति सिद्धान्त” को छोड़कर समाज-संगठन में प्रायः सब ने प्रेम एवं प्रसंविदा को ही अपनाया है।

अहिंसा : विवेचन और विस्तार :

(क) अभावात्मक शब्दावली क्यों ? “अहिंसा” पद देखने में भले ही अभावात्मक है लेकिन यथार्थ में यह भावात्मक पद ही है। यों तो वैशेषिक दर्शन में “अभाव” को भी एक पदार्थ ही माना गया है लेकिन ब्रैडले जैसे प्रत्ययवादी विचारक पूर्ण रूप से अभाव का अस्तित्व नहीं मानते। दूसरा तर्क हम यह भी दे सकते हैं कि “हिंसा” और “अहिंसा” ये दोनों व्याघातक पद हैं, अतः एक के अस्तित्व मात्र से भी इसके विपरीत व्याघातक पद का सहज ही अर्थबोध होता है। तीसरा एक और कारण हो सकता है। “अहिंसा” को धर्म मानकर उपनिषद्, श्रुति, स्मृति तथा बौद्ध एवं जैन वाङ्मय में प्रतिष्ठित स्थान मिला है तथा महावीर ने तो “अहिंसा परमोधर्मः” कहकर इसको पूर्ण प्रतिष्ठित कर दिया है। एक कारण यह भी हो सकता है कि चूँकि अहिंसा का भावात्मक अर्थ प्रेम बताया जाता है और प्रेम शब्द चूँकि अनेकार्थक एवं अस्पष्ट होने के साथ-साथ कई गुणों का समावेश करता है जिसमें से केवल एक गुण अहिंसा है, इसलिये “अहिंसा” पद को ही स्वीकार किया गया है। अहिंसा को छोड़कर प्रेम शब्द को इसीलिए स्वीकार नहीं किया गया है कि “प्रेम” शब्द आवश्यकता से अधिक व्यापक है।

(ख) अहिंसा की भावात्मक व्याख्या: — अहिंसा को भावात्मक व्याख्या के क्रम में इसे सक्रिय-प्रेम (active love) कहा गया है। जैसे “मा हिंस्यात् सर्वभूतानि” जैसे निषेधात्मक श्रुतिवचनों का भावात्मक अर्थ होगा — “सर्वभूत हिते रताः” अहिंसा की सर्वोत्तीर्ण एवं सनातन प्रतिष्ठा के लिये मन, वचन और कर्म—त्रिविध अहिंसा की परिपूर्ण साधना आवश्यक है। इसके लिये एक नवीन जीवन-दर्शन, एक नवीन तत्त्वज्ञान चाहिये। हम बड़ी विनम्रता के साथ कहना चाहेंगे कि अहिंसा का आधारभूत तत्त्वज्ञान अनेकान्त-दर्शन है। अनेकान्त दृष्टि का अवलम्बन ही वस्तुतः मानसिक अहिंसा है। वस्तु जगत् की संश्लिष्टता एवं अनन्तता तथा मानव मस्तिष्क की स्वीय स्वल्पज्ञता को ध्यान में रखते हुये अपनी एक सुदृढ़ दृष्टि का अहंकार और आग्रह तथा अन्य दृष्टि की अपेक्षा से एक हिंसक मानसिक आग्रहवाद का आविर्भाव होता है। विचार जब किसी अंध आग्रह पर आरुढ़ हो जाता है तो

मतवाद बन जाता है। हमारे सभी अवविश्वास किसी न किसी पक्षपातपूर्ण दृष्टि विशेष की आसक्ति का ही प्रतिफल हैं। इसीलिये व्यावहारिक अहिंसा के लिये सभी प्रकार के दुराग्रहपूर्ण वैचारिक साम्राज्यवाद एवं अतिक्रमण का परित्याग परमावश्यक है। निष्कर्ष यह कि अपने को सदा-सर्वदा सही एवं दूसरों को अनिवार्य रूप से गलत मान लेने से बढ़कर हिंसा की कोई दूसरी मजबूत जड़ नहीं हो सकती। यही बाह्य हिंसा का बीज है। इसलिये अपने सिद्धान्त में हिमालय की तरह दृढ़ रहने वाले विश्व वंश बापू ने बराबर कहा है “मैं स्वभाव से ही समन्वयवादी हूँ; क्योंकि केवल मैं ही सच्चा हूँ, ऐसा मुझे कभी विश्वास नहीं होता।” सचमुच जिस व्यक्ति में अपने अंश-ज्ञान या अल्पज्ञान का मान जगा हुआ होता है वह नम्रता से पद-पद पर कहता है कि “ऐसा होना भी संभव है।” इसीलिये सुकरात ने भी कहा था कि “मैं जानता हूँ कि मैं अज्ञानी हूँ।” प्लेटो ने भी इस भौतिक पदार्थ को “सत्” एवं “असत्” के बीच माना है। पूर्ण ज्ञान तो शायद किसी को होना भी संभव नहीं। सर्वे सर्वे न जानाति, सर्वज्ञ नास्ति कश्चन्। इसीलिये हमारा व्यक्तिगत ज्ञान, जिसे हम अंश ज्ञान या *opinion* कहेंगे, वह संभावना विषयक विश्वास ही कहा जायगा। इसीलिए तो शंकर एवं ब्रैडले को भी मानना पड़ा था कि माया या भ्रान्ति भी भ्रान्ति है क्योंकि प्रत्येक भ्रान्ति में सत्य का यत्किंचित अंश तो रहता ही है। (*Every sweet hath its sour, every evil good*)। सम्पूर्ण सत्य का साक्षात्कार मानव सामर्थ्य के बाहर है। इसीलिये हमें, अपने दृष्टिकोण के साथ अन्य दृष्टिकोण भी हैं, ऐसा जानना और मानना चाहिये। यह तभी हो सकता है जब हम उसकी भावनाओं के साथ सहानुभूति एवं सहृदयता द्वारा अपने मन में उसकी पुनरुत्पत्ति के द्वारा उसको समझें। जीवन एक सीढ़ी सड़क नहीं है, इसीलिए यहां अपने पर आग्रह के बदले विरोधियों को समझने का प्रयास अपेक्षित है। मनुष्य यदि स्वभाव से दुष्ट नहीं है तो मुख्य प्रश्न दृष्टिकोण का है। समझ के अभाव में ही सारे कलह होते हैं। अतः विचार-संघर्ष में अनेकान्त दृष्टि के द्वारा ही स्थायी विराम संभव है। इस तरह हम देखते हैं कि अहिंसा एक विचार-पद्धति है, एक जीवन-दृष्टि है। यह सब दिशाओं से, सब ओर से खुला एक मानस-चलु है। अनेकान्त कोई कल्पना नहीं बल्कि यथार्थता का जीवित सिद्धान्त है। वह तो किसी भी विषय को केवल संकीर्ण दृष्टि से देखने का निषेध करता है।

मानसिक और बौद्धिक अहिंसा की साधना जब परिपूर्ण हो जायगी तो स्वतः ही वाचनिक अहिंसा आ जायगी। वाचनिक अहिंसा के लिये केवल यही आवश्यक नहीं है कि मिथ्यात्व, कठोरता, व्यंग्य एवं संप्रलाप का ही हम परित्याग करें बल्कि उसकी भाषा शैली भी ऐसी होनी चाहिए जिससे कि अंधाग्रह या दुराग्रह की ध्वनि नहीं निकले। जैन विचारकों ने अहिंसक अवधारणात्मक योजना के अन्वेषण-क्रम में स्याद्वाद का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। हम भले ही स्याद्वाद के सभी शास्त्रीय एवं प्राविधिक पहलुओं से सहमत नहीं भी हो लेकिन उसकी अन्तर्गत विचार-सहिष्णुता एवं दूसरों के दृष्टिकोण के प्रति वास्तविक समदर की भावना से तो सहमत होंगे ही। “स्याद्वाद” शब्द में स्यात् एक ऐसा प्रहरी है जो शब्द की मर्यादा को संतुलित

रखता है। “स्यात्” का अर्थ ‘शायद’, ‘संभवतः’ या ‘कदाचित्’ नहीं बल्कि ‘कथंचित्’, या ‘अपेक्षित’ होगा, यानी अव्यविवक्षित धर्मों का अस्तित्व भी वस्तु में द्योतित होता है। यानी, केवल हमारा मानस और चिंतन ही अनैकांतिक नहीं रहे बल्कि हमारी वाणी भी एकांश प्रतिपादिका न रह कर अनेकांत भाव को प्रकट करते रहे हैं। इस तरह हमने देखा कि अहिंसा केवल व्यवहारगत ही नहीं, मानसिक एवं वाचनिक भी है, जो स्याद्वाद की निर्दोष एवं अहिंसक भाषा शैली से बहुत हद तक संभव भी है।

(ग) अहिंसा की समग्र व्याख्या:— लेकिन अहिंसा का यह कायिक, मानसिक एवं वाचिक रूप से त्रिविध प्रयोग केवल वैयक्तिक जीवन साधना में या जीवन के किसी एक क्षेत्र में ही सीमित नहीं रहेगा। जीवन का सम्पूर्ण क्षेत्र ही अहिंसा की रंगशाला होगा। अहिंसा का अन्वेषण मानवीय सभ्यता की शायद सबसे बड़ी उपलब्धि है। प्रेम ही इसका आदि, मध्य एवं अन्त है। यदि हम कुछ गहराई से विचार करें तो यह पता लगेगा कि अहिंसा का अन्वेषण वस्तुतः सत्य का ही अन्वेषण है। सत्य का सम्पूर्ण त्रिकाल बाधित स्वरूप में दर्शन होना तो कठिन है ही, उसका सत्यापन तो और भी कठिन है। इस प्रकार अपूर्ण सत्यदर्शी मानव के चिंतन में देश-काल-परिस्थिति, भाषा, उसकी मनोदशा आदि का प्रभाव पड़ता है। अस्तु, इस स्थिति में समन्वयात्मक प्रज्ञा एवं मिथ्याभिमान का परित्याग ही अहिंसक जीवन-दर्शन को जन्म देता है। यह जीवन की अनिवार्यता भी है।

यदि हम पारिवारिक जीवन से विवेचन आरम्भ करें तो हमें यहां सक्रिय प्रेम एवं पारस्परिक त्याग का बिलकुल सजीव उदाहरण मिलेगा। माँ की ममता एवं पिता के प्यार में हम वस्तुतः अहिंसा की मूर्तमान देखते हैं।

सामाजिक-जीवन में अपने व्यक्तिगत निरंकुश आवेगों को मर्यादित एवं विवेकपूर्ण नियमन एवं नियंत्रण के द्वारा समाज को संतुलित रखने की उत्तरोत्तर अभ्युदयवान् क्रिया को ही अहिंसा कहते हैं। जीवित अहिंसा की प्रेरणा निषेध नहीं बल्कि सर्व मंगलकर पारस्परिक त्याग ही है। लेकिन समाज के आदर्श संतुलन के लिए सामाजिक-साम्य अनिवार्य है। अतः जाति, सत्ता, सम्पत्ति आदि के आधार पर स्थापित सामाजिक वैषम्य वस्तुतः हिंसा है।

आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिगत स्वामित्व की भावना ही हिंसक भावना है। प्रूथो ने भी कहा है: **Property is theft.** गीता ने बताया है: त्यक्त सर्वं परिग्रहः। इसका अर्थ हुआ कि व्यक्तिगत स्वामित्व का निराकरण करना एक अहिंसक विधान है।

उसी प्रकार सामाजिक-जीवन में वर्णभेद या उच्च-नीच का भाव रखना सामाजिक-हिंसा का स्थूल रूप है। धार्मिक-क्षेत्र में अहिंसा की भावना “सर्वधर्म समभाव” में ही आ कर साकार हो सकती है। विचार जब धार्मिक आग्रहवाद पर आरुढ़ हो जाता है तो वह सम्प्रदाय बनकर असहिष्णु एवं हिंसक हो जाता है।

साहित्य एवं संस्कृति के क्षेत्र में अहिंसा की भावना एक उदार एवं जीवनोन्मुख दृष्टि रखती है। साहित्य के क्षेत्र में अहिंसा अनेक वस्तुओं का, अनेक रीति से प्राचीन

एवं नवीन ज्ञान संचित करने के लिये प्रेरित करतो है। अहिंसक संस्कृति अनिवार्यतः सामाजिक संस्कृति होगी। शायद यह दुहराना आवश्यक नहीं होगा कि अहिंसक संस्कृति का आधार शोषण हो ही नहीं सकता। यहाँ मैं बहुत विनम्रता के साथ कहना चाहूँगा कि शोषण के आधार पर निर्मित बड़े बड़े कलात्मक राजप्रासाद या कला कीर्ति भले ही विशुद्ध कला की दृष्टि से उत्तम हों लेकिन वे अहिंसक संस्कृति के प्रतीक नहीं हो सकते।

राष्ट्रीय सन्दर्भ में क्रमशः निरंकुश राजसत्ता के बदले जनतंत्र की ओर विश्व मानस की प्रवृत्ति अहिंसा की ओर एक शक्तिशाली कदम है। सच्चे जनतंत्र का आधार कभी भी हिंसा नहीं हो सकता। यहां बहुमत का राज्य भले ही हो लेकिन अल्पमत के आदर का भाव रहता है। ईसा ने कहा “अपने शत्रुओं को प्यार करो” और जनतंत्र कहता है अल्पमत का आदर करो।

अंतर्राष्ट्रीय राजीनीति में अन्तर्राष्ट्रीय कानून, अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय, अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का उत्तरोत्तर विकास एवं उनकी मान्यताएँ बढ़ती हुई अहिंसा का ही संकेत हैं। आज तो साम्यवादी रूस भी “युद्ध की अनिवार्यता” में विश्वास छोड़कर राजनैतिक सह-अस्तित्व का प्रतिपादन कर रहा है। उसी तरह विश्व सरकार की ओर मानव की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई आकांक्षाएँ भी विश्वव्यापिनी अहिंसा की भावना का समर्थन करती हैं। मैं तो मार्क्स एवं गाँधी के विचारों में प्राप्य राज्य शासन के विलयन की कल्पना में भी अहिंसा की ही कल्पना पाता हूँ, शासन के साथ हिंसा का अनुस्यूत सम्बन्ध हो जाता है।

दंड शास्त्र एवं दंड विधान के क्षेत्र में भी हम अहिंसा की ओर स्पष्ट कदम पाते हैं। यों तो दंड का आधार ही हिंसा है, किन्तु आज सभ्यता के ही नाम पर बहुत से देशों में प्राणदंड तो उठाया जा ही रहा है साथ-साथ दंड को कम से कम नृशंस एवं क्रूर बनाने का भी प्रयास हो रहा है। उसी तरह अपराधी बालकों के लिए जेलखाने के बदले सुधारात्मक पाठशालाओं की व्यवस्था हो रही है।

शिक्षा शास्त्र के नये आयाम में भी दंड एवं हिंसा एक बर्बरता मानी गयी है। शिक्षा का वास्तविक अर्थ है — अन्तर्निहित गुणों की अभिव्यक्ति, जो जबर्दस्ती या दंडविधान के द्वारा संभव नहीं। अतः हम यह विश्वास पूर्वक कह सकते हैं कि सच्ची शिक्षा ही नहीं, कोई भी शिक्षा अहिंसक ही हो सकती है।

५. अहिंसा की शव परीक्षा : एक विश्लेषण :—

यह एक साधारण बात सी हो गयी है कि लोग अहिंसा को एक सुन्दर सिद्धान्त, एक सौम्य आदर्श तो स्वीकार कर लेते हैं लेकिन इसे अव्यावहारिक मान लेते हैं।

(क) अहिंसा एक ऐसी शक्ति है जिसका उपयोग बच्चे से बूढ़े, बीमार से स्वस्थ और धनी से गरीब सब कर सकते हैं। अतः यह प्रतिकार का हिंसा से अधिक प्रभावकर साधन है।

(ख) यह सोचना भी गलत है कि अहिंसक प्रतिकार केवल व्यक्तिगत जीवन के लिये उपयुक्त है, लेकिन सामाजिक जीवन में यह बिल्कुल अर्थहीन है। वस्तुतः गाँधी एवं विनोबा

- की सामूहिक अहिंसा एवं सत्याग्रह के प्रयोग के बाद यह आरोप निराधार माना जायगा ही।
- (ग) अहिंसक प्रतिकार ही प्रतिकार का सर्वोत्तम साधन है, इससे ही अन्याय का मौलिक एवं आत्यन्तिक निराकरण संभव है। हिंसक प्रतिकार में प्रतिहिंसा एवं प्रतिक्रिया का चक्र अखंड रूप से चलता ही रहता है, जिसमें अन्यायी के नाश से तात्कालिक समाधान तो हो जाता है लेकिन अन्याय का सन्तुलन संभव नहीं होता।
- (घ) अहिंसक सेनानी ध्यान, जप, योग में मग्न व्यर्थ एवं निष्क्रिय तत्वज्ञानी नहीं होता, वह तो सच्चा पुरुषार्थी बनकर अविराम रूप से अन्याय के विरुद्ध प्राणपन से सक्रिय एवं सजीव रहता है। इस युद्ध में केवल उसका शरीर एवं मस्तिष्क ही नहीं बल्कि उसकी सम्पूर्ण आत्मा भी युद्धरत रहती है।
- (च) हिंसक युद्ध में विजय में भी भविष्य में पराजय की आशंका बनी रहती है, लेकिन अहिंसक युद्ध में पराजय होती ही नहीं और विजय में एक सौम्यता एवं निश्चितता विराजमान रहती है।
- (छ) अहिंसा कोई प्रतिकार नहीं बल्कि क्षमा की पराकाष्ठा है, जिसके लिये अखंड निर्भयता एवं अपार वीरता चाहिये। अहिंसा कायरों का युद्ध कौशल नहीं है। कायरता से तो हिंसा ही श्रेयस्कर है।
- (ज) हिंसा की अपनी सीमायें हैं। हिंसा के द्वारा यदि कोई सुन्दर कार्य भी हो जाता है तो वह अस्थायी होता है, लेकिन हिंसा के द्वारा जो अहित होता है वह चिरस्थायी रह जाता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि हिंसा का उपयोग करने वाले स्वयं हिंसा की लपट में जल जाते हैं।
- (झ) अहिंसा के विषय में हमारी यह धारणा भ्रान्त है कि यह समय-साधक प्रक्रिया है। वस्तुतः अहिंसा अपना काम सूक्ष्मता से अदृश होकर करती है, लेकिन उसकी तीव्रता कम नहीं रहती। अहिंसा का आक्रमण अमोघ होता है, इसीलिये बापू ने कहा है कि यह सबसे द्रुतगामी प्रक्रिया है, क्योंकि इसकी सफलता निस्संशय है।
- (ट) सबसे अंत में, हम यह कहेंगे कि मानवीय सभ्यता के विकास के इस सोपान पर हमारे लिये बर्बरता शोभा नहीं देती। अहिंसक युद्ध में मानवीयता और भी प्रखर होती है। हिंसक युद्ध तो वस्तुतः मत्स्य न्याय एवं जंगल न्याय है, जिसकी हम इतनी निन्दा करते हैं।
- (ठ) बाह्य आक्रमणों के सन्दर्भ में अहिंसा की निष्फलता सिद्ध करने का प्रयास शायद अहिंसा की सबसे बड़ी कसौटी होगा। इस सम्बन्ध में हम केवल कल्पना ही कर सकते हैं, चूँकि आज तक कोई भी राष्ट्र अहिंसक होकर किसी आक्रमण का सामना करने के लिए प्रस्तुत नहीं हुआ है। निःशस्त्र एवं अहिंसक राष्ट्र की तो अलग बात रहे, आज हम देखते हैं कि कुछ हद तक शांतिवादी एवं तटस्थ राष्ट्र होने के कारण ही चीनी आक्रमण के सन्दर्भ में भारत को विश्व के राष्ट्रों की सहानुभूति मिली है। इसीलिये तो स्वर्गीय डा. राजेन्द्र

प्रसाद ने विश्वशांति के लिए एकपक्षीय निःशस्त्रीकरण का सुझाव दिया था। निश्चय ही सचमुच में निःशस्त्र एवं निष्पक्ष राष्ट्र की रक्षा के लिये आज विश्वमानस बन चुका है।

६. उपसंहार

(क) विश्वशांति : आणविक अस्त्रों के नित्य नवीन शोधन परिशोधन से आज मानवता आक्रान्त भले ही है, लेकिन यह हमें मानना होगा कि आज शस्त्रों का सांस्कृतिक मूल्य तो नष्ट हो ही गया है, युद्ध का गतित्व भी समाप्त हो चुका है। शस्त्र का सांस्कृतिक मूल्य तभी तक था जब यह अपेक्षाकृत आंशिक विनाश के साधन स्वरूप प्रभुत्व प्राप्ति का उपकरण था। किन्तु जब इसमें सर्वनाश की मूर्त्त सम्भावना प्रकट हो गयी है तो इसका मूल्य ही समाप्त हो गया है। इसीलिए निःशस्त्रीकरण एक अनिवार्यता बन गयी है। युद्ध की अनिवार्यता में विश्वास करने वाला साम्यवादी चीन भी आज अणु अस्त्रों के परीक्षण के आंशिक निरोध का इसलिये विरोध करता है कि यह टकोसला है, वास्तव में सम्पूर्ण परीक्षण बन्द हो। यानी, आज युद्ध समर्थक असभ्य एवं असांस्कृतिक तो माना जायगा ही वह विश्व मानस में विश्व अपराधी भी होगा। चाहे यह प्रकृति का व्यंग ही क्यों न हो, चाहे इसे नियतिवाद ही क्यों न कहें, आज निःशस्त्रीकरण एवं विश्वयुद्ध निरोध मानवता के लिये अपरिहार्य बन गया है।

(ख) विश्व सरकार : राष्ट्रीय संप्रभुता के आंशिक समर्पण की प्रक्रिया उसी समय प्रारम्भ हो गयी जबसे उग्र एवं संकुचित राष्ट्रवाद के गर्भ से फासिस्ट एवं नाज़ीवाद का प्रादुर्भाव हुआ। संकुचित राष्ट्रवाद से दूसरे राष्ट्र एवं विश्वशांति को खतरा तो रहता ही है, स्वयं उस राष्ट्र के नागरिकों की सुरक्षा, स्वतंत्रता एवं सुख का कोई भरोसा नहीं। आज अन्तर्राष्ट्रीयता कोई स्वप्न नहीं बल्कि नित्यप्रति विकसित यथार्थ है। राष्ट्रीय संप्रभुता की कठोर जंजीरें भी ढीली पड़ती जा रही हैं। राज्यवाद की बढ़ती हुई दुःशंकाओं से आक्रान्त आज की विचारणा अखंड प्रभुसत्ता के सिद्धान्त को चुनौती दे चुकी है। मैकाइवर महोदय ने तो संप्रभुता में सन्निहित राज्य की इस सर्वशक्तिमान सत्ता को अकुशलता का पर्यायवाची बताया है तथा लास्की, केल आदि विचारक आर्थिक समुदायों की समान संप्रभुता में विश्वास करने लगे हैं। गेटेल ने संप्रभुता के प्रति इस विरोध को रूढ़िवादी वैधानिकवाद के विरुद्ध सामयिक प्रतिवाद माना है। इसीलिये तो आज केवल “अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय” ही नहीं बल्कि “संयुक्त राष्ट्र संघ” के रूप में विश्व सरकार की नींव पड़ चुकी है। आज न तो राहुल की “बाइसवीं सदी” एवं न वेन्डल विल्की का “वन वर्ल्ड” ही स्वप्न प्रतीत होता है।

(ग) विश्व साम्यवाद : विश्व शांति एवं विश्व सरकार का आधार विश्व समाजवाद ही हो सकता है। शान्ति तो कई प्रकार की हो सकती है। शान्ति की स्थायी व्यूह रचना सैनिक सत्ता के आर्थिक शोषण या सामाजिक विषमता के आधार पर नहीं हो सकती। स्थायी शांति के लिये सामाजिक एवं आर्थिक विषमता तो समाप्त करनी ही होगी, साथ-साथ विश्व-समाजवाद की दिशा में भी आगे बढ़ना होगा। इसका अर्थ है कि हम सभी विश्वनागरिक होंगे। हिमालय केवल हमारा ही नहीं, चीनी और पाकिस्तानियों का भी होगा। संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका

एवं रूस के अपार कृषि एवं खनिज द्रव्य ही नहीं वहां की वैज्ञानिक प्रतिभाओं का भी हम उपयोग करेंगे। सम्पूर्ण विश्व की एक आर्थिक परियोजना होगी। सम्पत्ति एवं व्यक्ति पर राष्ट्रीय मुहर नहीं होगी और व्यक्ति-व्यक्ति की सुख सुविधाओं में वैषम्य भी नहीं रहेगा। यही स्थिति अहिंसक समाज का स्वर्ग होगा।

भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर।

एक दार्शनिक संदेहवादी की युक्ति

लक्ष्मीकान्त

ज्ञान की धारणा में कम से कम तीन तत्व हैं: सत्य, निश्चितता और सिद्धि शक्यता। दार्शनिक संदेहवादी इन तीन पदों के अर्थ के संबंध में प्रश्न उठाता है।

१. 'ज्ञान' इस शब्द के कम से कम तीन विरोधार्थक शब्द हो सकते हैं— (१) 'भ्रान्ति' (hallucinatio, dellusion इस प्रकार के सभी शब्दों को सम्मिलित करते हुए) (२) 'सन्देह' और (३) 'अज्ञान'। संदेहवादी विशेषतः 'भ्रान्ति' के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न करता है।

यदि 'भ्रान्ति' शब्द ज्ञान के विरोधी शब्द की हैसियत से दार्शनिक शब्दावली में स्वीकार किया जाता है—जैसा कि किया जाता है—तो एक संश्लेषणात्मक कथन की सत्यता उस अनुभव से, जो उस कथन में व्यक्त होता है, स्वतंत्र है, और कथनों का सत्य संगति (कांसिस्टेंसी) से ग्रहण होता है।

यहां अनुभविक (संश्लेषणात्मक) कथन की 'सत्यता' के उस कथन में व्यक्त अनुभव से स्वतंत्र होने का क्या तात्पर्य है, यह विचारणीय है। इसे इस तरह स्पष्ट किया जा सकता है, कि प्रत्येक आनुभविक कथन आवश्यक रूप से सत्य नहीं होता क्योंकि फिर भ्रान्तानुभविक कथन' प्रयोग अनुचित होगा। दूसरे शब्दों में हम इसे इस तरह कह सकते हैं, 'क्योंकि भ्रान्तानुभविक कथन असत्य कथन है और यह कि भ्रान्तानुभविक कथन आनुभविक कथन है, अतः सभी आनुभविक कथनों का सत्य होना आवश्यक नहीं है। इस अर्थ में एक संश्लेषणात्मक कथन की सत्यता उस कथन में व्यक्त अनुभव से स्वतंत्र है।

यहां आनुभविक कथनों के संगत होने के सम्बन्ध में विवाद उठता है कि 'संगति' से क्या तात्पर्य है, क्योंकि दार्शनिक संदेहवादी यही कहता है कि ये अनिश्चयार्थक शब्द हैं। अतः यह केवल सुविधापेक्ष (arbitrary) है कि हम कहें कि अमुक कथन संगत है।

२. एक आनुभविक कथन की 'सत्यता' उसमें व्यक्त अनुभव से स्वतंत्र है। इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में एक अन्य उल्लेखनीय कठिनाई है। प्रश्न किया जा सकता है कि यदि किसी कथन की सत्यता उस कथन में व्यक्त अनुभव से स्वतंत्र है तो, वह कथन सत्य है, यह अन्य अनुभवों से ही सिद्ध कैसे किया जा सकता है? एक बार यह स्वीकृत होने पर कि कथन की सत्यता उस अनुभव से, जो कथित किया जा रहा है (या किया गया है), अलग है, हम यह कैसे कह सकते हैं कि हम अनुभव के आधार पर एक आनुभविक कथन की सत्यता सिद्ध कर सकते हैं?

अनुभववादी के अनुसार सत्य की कसौटी प्रमाणीकरणीयता (verification) तथा अनुभव के द्वारा पुष्टीकरण है। एक संश्लेषणात्मक कथन में व्यक्त अनुभव को घटित करके उस कथन को प्रमाणित किया जा सकता है और इस प्रकार उस कथन की सत्यता स्थापित की जा सकती है।

किन्तु यहां भी कठिनाई दीखती है। वह अनुभव, जो किसी एक कथन को प्रमाणित करेगा, आवश्यक नहीं कि स्वयं भी सही (वेरीडिकल) हो। अतः वह अनुभव, जिससे हम किसी कथन की सत्यता प्रमाणित करने जा रहे हों, प्रथम इसकी माँग करता है कि यह निश्चय किया जाय कि वह एक सही अनुभव है, या एक भ्रान्त अनुभव नहीं है। इसके सही होने का निश्चय करने के लिए अन्य अनुभव भी अपेक्षित हैं जो अपनी स्वयं उसी प्रकार की माँग कर सकते हैं। अतः ऐसी प्रक्रिया में कदाचित् अनवरस्था दोष हो सकता है।

सत्य के आनुभविक कथनों द्वारा प्रकाशित अनुभव से स्वतंत्र होने की धारणा में और भी कठिनाइयाँ हो सकती हैं। इसी प्रकार निश्चितता और प्रमाणीयता की धारणाओं में भी कठिनाइयाँ हैं।

वास्तव में 'सत्य', 'निश्चितता' और 'प्रमाणीयता' ये तीनों शब्द गणित और रूपात्मक न्यायशास्त्र (formal logic) में पूर्ण सार्थकतया प्रयुक्त हो सकते हैं। किन्तु जब हम इन्हें आनुभविक कथनों में खोज निकालने या स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं तो इस तथ्य के बावजूद कि हम इन्हें किञ्चित् भिन्न अर्थों में प्रयुक्त करते हैं, ये कठिनाइयाँ उत्पन्न करते हैं।

एक दूसरी भांति से चिंतन की सम्भावना भी है, कि वे सभी कथन, जो अनुभव को अमिश्र रूप से व्यक्त करते हैं, सत्य हैं। यह संभावना 'भ्रान्ति' शब्द के अर्थ को समाप्त कर देती है, और फिर निभ्रान्त अनुभव और भ्रान्त अनुभव में कोई अन्तर नहीं रह जाता। सभी अनुभव 'मात्र अनुभव' रह जाते हैं। कथन सत्य या असत्य हो सकते हैं किन्तु अनुभव सही या भ्रान्त नहीं हो सकते। अतः यह परिणाम निकलता है कि प्रत्यक्षा-करण की हर घटना ज्ञान का एक उदाहरण होगा।

यदि 'भ्रान्ति' यह शब्द ज्ञान के विरोधार्थक शब्द की हैसियत से दार्शनिक शब्दावली में अस्वीकार कर दिया जाय तो एक संश्लेषणात्मक कथन की 'सत्यता' उस कथन में व्यक्त अनुभव से स्वतंत्र नहीं होती और यह आवश्यक नहीं रह जाता कि दो सत्य कथन परस्पर संगत हों।

केवल विश्लेषणात्मक कथन, जो हमें संसार का कोई ज्ञान नहीं देते, आवश्यक रूप से संगत कहे जायेंगे। ये कथन निश्चित हैं और सिद्ध किए जा सकते हैं। अतः यह गलत होगा कि 'निश्चितता', 'प्रमाणीयता' इन शब्दों का प्रयोग आनुभविक कथनों के संदर्भ में किया जाय। और अतएव यह सोचना गलत है कि संसार का ज्ञान निश्चित हो सकता है और सिद्ध किया जा सकता है।

चिन्तन की यह संभावना स्वात्मवाद (solipsism) की ओर ले जाती है अथवा अन्य किसी अस्वीकार्य स्थिति की ओर, यहां इस पर विचार नहीं किया जा रहा है। यहां जो विचार किया जा रहा है वह यह है कि एक कथन की सत्यता उस व्यक्ति के अनुभव से स्वतंत्र है

जो उस कथन में किसी वस्तुस्थिति का प्रतिपादन कर रहा होता है अथवा उससे इन्कार कर रहा होता है ।

कथन की सत्यता की इस धारणा को, कि यह कथन में व्यक्त अनुभव से स्वतंत्र है, स्वीकार करते हुए हम किसी एक ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष के निर्णय की जाँच करें: सन्देहवादी का प्रश्न है, “क्या सत्य, जो अनुभव से स्वतंत्र है, अनुभव में अथवा अनुभव के द्वारा स्थापित हो सकता है ?” किसी आनुभविक निर्णय की सत्यता-स्थापन का एक मात्र उपाय यह कहा जाता है कि इसकी अन्य अनुभवों से पुष्टि हो, यदि अगले अनुभव उस निर्णय को प्रमाणित करते हैं तो वह निर्णय सत्य है ।

अनुभव के निर्णय को अगले वैसे ही अनुभवों से अनेक बार परीक्षित किया जा सकता है और हर बार वह परीक्षण से प्रमाणित भी हो सकता है, और हो सकता है कि एक बार भी ऐसा न हो कि वह अप्रमाणित रह जाय । किन्तु क्या सत्य, जैसा ऊपर परिभाषित और स्वीकार किया जा चुका है, किसी आनुभविक निर्णय के परीक्षणों, अथवा यूँ कहें कि पुनरावृत्त परीक्षणों, के द्वारा प्रमाणित हो सकता है ? और यह तथ्य कि अगले अनुभवों के परीक्षण इस इस संख्या में दुहराए जा चुके हैं, क्या परिणाम में किञ्चित् अंतर ला सकता है ?

फिर ‘सत्य’ और ‘असत्य’ ये शब्द आनुभविक कथनों के लिये प्रयुक्त नहीं हो सकते । अतः संसार का वर्णन करने वाले वाक्यों के लिए ‘यथार्थ’ तथा ‘अयथार्थ’ जैसे विशेषणों का प्रयोग किया जा सकता है । इन वाक्यों के लिए ‘सत्य’ अथवा ‘असत्य’ शब्दों का प्रयोग गलत होगा । इसी प्रकार विज्ञान के सभी अभ्युपगमों (Hypotheses) के लिए भी ‘सत्य’ और ‘असत्य’ शब्द उपयुक्त नहीं, वरन् ‘संभाव्य’ (Probable) या ‘असंभाव्य’ शब्द उपयुक्त हैं । इसी प्रकार संसार के ज्ञान में ‘निश्चितता’ और ‘साध्यता’ अपेक्षित है, कहना गलत होगा क्योंकि ‘निश्चितता’ और ‘साध्यता’ ये शब्द अनुभव के सन्दर्भ में प्रयुक्त नहीं हो सकते । संसार के ज्ञान के लिए केवल संभाव्यता अपेक्षित है । अतः ज्ञान के संबन्ध में यह कहा जा सकता है कि संसार के ज्ञान की हमारी धारणा में दो तत्व आवश्यक हैं—यथार्थता और संभाव्यता ।

एयर ने अपनी पुस्तक ‘प्रॉब्लम ऑफ नॉलेज’ में लिखा है कि दार्शनिक सन्देहवादी ज्ञान के ऐसे प्रतिष्ठित स्रोतों, जैसे स्मृति या प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों, की त्रुटिपूर्णता का दावा अनुभव के आधार पर नहीं करता । उसका प्रश्न है, “क्या कोई ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष ऐसा हो सकता है जो किसी भी दशा में अपने विषय का प्रमाण कहा जा सके ? इसका क्या प्रमाण है कि ज्ञान का एक निश्चित छोट निश्चित दशा में निरन्तर ज्ञान दे रहा है ?”

सन्देहवादी के विरुद्ध यह युक्ति दी जाती है कि ऐसे अवसर, जब ज्ञान के स्रोत हमें बोखा देते हैं, तभी आ सकते हैं जब ऐसे अवसर भी आते हों जब वे हमें यथार्थ ज्ञान भी देते हों, अर्थात् जब वे हमें बोखा नहीं देते हों; क्योंकि यदि सही अनुभव न हों तो इस तथ्य

की, कि अमुक अमुक अनुभव एक भ्रान्ति थी, पहचान नहीं हो सकती। राइल की एक आपत्ति का उल्लेख यहां प्रासंगिक होगा: 'खोटे सिक्के तभी हो सकते हैं जब ऐसे सिक्के भी हों जो उपयुक्त सामग्री से उपयुक्त अधिकारियों द्वारा निर्मित कराए गए हों'। एयर कहते हैं, "एक भ्रान्त अनुभव को अन्य निभ्रान्त अनुभवों की प्रतिकूल तुलना (contrast) में भ्रान्त कहा जाता है, अतः यह मानना कि समस्त अनुभव भ्रान्त हैं 'भ्रान्ति' शब्द को अपने अर्थ से वंचित कर देना है"। एयर समस्त अनुभवों के भ्रान्त होने की सम्भावना से निषेध करते हैं। वे कहते हैं कि एक संदेहवादी "यह नहीं मानता कि सभी प्रत्यक्ष ऐसे हैं जो भ्रामक नहीं हैं।" अर्थात् वह इस संभावना से न नहीं करता कि प्रत्यक्ष निभ्रान्त भी होते हैं। और राइल केवल इतना कहते हैं कि 'भ्रान्त प्रत्यक्ष हैं', यह कहने के लिए यह कहना भी आवश्यक है कि 'निभ्रान्त प्रत्यक्ष भी हैं'। जब संदेहवादो निभ्रान्त प्रत्यक्षों की संभावना को स्वीकार करता है तो, राइल की आपत्ति, कि निभ्रान्त प्रत्यक्ष भी हैं, एक अधिक अनाग्रही संदेहवादी के विरुद्ध कोई आपत्ति नहीं है।

किन्तु यह राइल की आपत्ति का उपयुक्त उत्तर नहीं है। वे अपनी उपमात्मक आपत्ति में केवल यही नहीं कहते कि सभी ऐन्द्रिय-प्रत्यक्ष भ्रामक नहीं हो सकते, और, कि कुछ प्रत्यक्ष अवश्य ही सही प्रत्यक्ष हैं, बल्कि उनके कथन का अर्थ यह भी है कि हम यह जानते हैं कि प्रत्यक्षीकरण की अमुक अमुक घटनाएँ निभ्रान्त प्रत्यक्षीकरण की घटनाएँ थीं; अन्यथा राइल के यह कहने का क्या अर्थ हो सकता है कि हम भ्रान्ति को पहचान सकते हैं? एयर ने, जैसाकि ऊपर उद्धृत है, स्वीकार किया है कि संदेहवादी का कथन है कि हम वास्तव में कभी नहीं जान सकते कि कौन से प्रत्यक्ष ऐसे हैं जो निभ्रान्त हैं, और राइल की आपत्ति, जैसाकि ऊपर दिखाया गया है यह है कि हम जानते हैं कि अमुक अमुक प्रत्यक्ष निभ्रान्त प्रत्यक्ष था। अतः राइल की आपत्ति संदेहवादी के विरुद्ध वास्तव में एक गंभीर आपत्ति है।

संदेहवादी प्रत्यक्षों के सही होने—उनके वस्तुस्थितियों की सही प्रतिकृतियाँ होने—की सम्भावना से इन्कार नहीं करता। किन्तु वह इस बात पर विवाद उठाता है कि हम किसी प्रत्यक्ष के निर्णय को तबतक सत्य कहने का दावा नहीं कर सकते जबतक हम उसे सिद्ध करने के उचित प्रमाण दे सकने की स्थिति में न हों। प्रत्यक्ष का कोई निर्णय एक सत्य निर्णय हो सकता है, किन्तु केवल इस तथ्य से कि प्रत्यक्ष का कोई निर्णय एक सत्य निर्णय है, यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि इसकी सत्यता का ज्ञान भी इसके साथ रहता है।

आगे एयर कहते हैं कि स्वयं संदेहवादी से तब यह प्रश्न किया जा सकता है कि तब फिर कभी भी हम यह पता कैसे लगा सकते हैं कि कुछ प्रतीतियाँ (appearances) भ्रामक हैं जबतक हम यह न जानते हों कि कुछ ऐसी भी हैं जो विश्वसनीय हैं? एयर के इस प्रश्न में यह पूर्वकल्पित है कि किसी को इस तथ्य का ज्ञान होने के लिए कि वह भ्रम की स्थिति में था, यह आवश्यक नहीं है कि उसे वास्तविक वस्तु-स्थिति का ज्ञान हो। किन्तु कदाचित् यह किसी तरह भी आवश्यक नहीं है। यह ठीक है कि किसी

को इस तथ्य का ज्ञान, कि वह भ्रम की स्थिति में है—जबतक वह भ्रम की स्थिति में रहता है—नहीं हो सकता, अर्थात् भ्रम की स्थिति का ज्ञान अन्य अनुभवों के द्वारा भ्रान्त अनुभव के बाधित होने पर ही हो सकता है। किन्तु प्रत्यक्षकर्त्ता के लिये इस तथ्य के ज्ञान के लिए कि, वह भ्रम की स्थिति में था, किसी भी दशा में यह आवश्यक नहीं है कि वह एक निभ्रान्त स्थिति में हो और उसे इस तथ्य का ज्ञान हो कि वह निभ्रान्त स्थिति में है।

एक उदाहरण लें। धुँधले प्रकाश में एक कमरे में जाने पर किसी व्यक्ति को फर्श पर एक सर्प—वत् प्रत्यक्ष होता है। शीघ्रता में पैर की ठोकर लगने पर उसे प्रतीत होता है कि या तो वह सर्प नहीं है या फिर वह मरा हुआ सर्प है। हाथ से स्पर्श करने पर उसके दृष्टि प्रत्यक्ष का बाध होता है और वह पाता है कि वह सर्प नहीं था।

अब इतना निश्चिततः कहा जा सकता है कि इन दो प्रत्यक्षों में से कम से कम एक प्रत्यक्ष आवश्यक रूप से भ्रान्त है, क्योंकि एक ही प्रत्यक्ष—विषय के दो प्रत्यक्ष परस्पर विरोधी हों और दोनों सत्य हों यह नहीं हो सकता। अतः कम से कम एक प्रत्यक्ष भ्रान्त प्रत्यक्ष है। किन्तु यह निश्चिततः नहीं कहा जा सकता कि इन दो प्रत्यक्षों में से कम से एक निभ्रान्त प्रत्यक्ष था। यह कथन कि 'एक प्रत्यक्ष—विषय के दो विरोधी प्रत्यक्षों में से कम से कम एक प्रत्यक्ष भ्रान्त है' आवश्यक रूप से सत्य है, जबकि यह कथन कि 'एक प्रत्यक्ष—विषय के दो विरोधी प्रत्यक्षों में से कम से कम एक प्रत्यक्ष निभ्रान्त है' का सत्य होना आवश्यक नहीं है।

इस तथ्य से कि, किसी वस्तु के एक प्रत्यक्ष का उसी वस्तु के एक अन्य प्रत्यक्ष से बाध होता है, यह परिणाम निकलता है कि इनमें से एक अवश्य ही भ्रान्त था। किन्तु इस तथ्य से हम इस अन्य परिणाम पर नहीं पहुँचते कि इन में से कम से कम एक प्रत्यक्ष निभ्रान्त प्रत्यक्ष था। और भी, जबकि एक ही प्रत्यक्ष—विषय के दो प्रत्यक्ष परस्पर विरोधी होते हैं तो यह परिणाम नहीं निकाला जा सकता कि बाद वाला प्रत्यक्ष एक निभ्रान्त प्रत्यक्ष था।

यह कहा जा सकता है कि "एयर का अभिप्राय है कि किसी के लिए सब प्रत्यक्षों के प्रति संदेहशील होना अतर्कसम्मत है, क्योंकि संदेहशील तभी कोई हो सकता है यदि वह निभ्रम का कम से कम एक उदाहरण जानता हो। प्रत्यक्ष किसी वस्तुस्थिति के व्यंजक होते हैं; इस सम्बन्ध में संदेहशीलता जबतक अतर्कसम्मत है जबतक हम कम से कम एक निभ्रान्त प्रत्यक्ष का उदाहरण नहीं जानते।"

मेरी सम्मति में, यदि हम निभ्रान्त-प्रत्यक्ष का क्या अर्थ है यह समझते हैं, तो अनुभव के क्षेत्र में, केवल इसी आधार पर, प्रत्यक्षीकरण की उन घटनाओं की पहचान कर सकते हैं जो निभ्रान्त नहीं हैं, भले ही हम निभ्रान्त प्रत्यक्षीकरण की किसी भी घटना से अवगत न हुए हों। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है: 'निभ्रान्त प्रत्यक्ष ऐसे होते हैं कि एक निभ्रान्त प्रत्यक्ष अन्य किसी भी निभ्रान्त प्रत्यक्ष के द्वारा बाधित नहीं हो सकता'। अब अनुभव के क्षेत्र में जब हम एक प्रत्यक्ष—विषय के दो परस्पर विरोधी प्रत्यक्ष पाते हैं तो यह

आवश्यक है कि कम से कम एक प्रत्यक्ष निभ्रान्त प्रत्यक्ष नहीं है। किन्तु हम इन दोनों में से किसी एक के विषय में निश्चिततः नहीं कह सकते कि वह निभ्रान्त है, अर्थात् वह अबाधित है और अपने ही प्रकार के प्रत्यक्षों की संभावित अनन्त शृंखला से संबंधित किये जाने पर अबाधित रहेगा। हम इन दोनों में से कम से कम एक प्रत्यक्ष के निभ्रान्त होने की संभावना को अवश्य स्वीकार करेंगे क्योंकि कम से कम एक प्रत्यक्ष निभ्रान्त प्रत्यक्ष हो सकता है। किन्तु यह निश्चित है कि कम से कम एक प्रत्यक्ष भ्रान्त प्रत्यक्ष है।

भ्रान्त प्रत्यक्षों के बारे में कहा जा सकता है कि 'एक भ्रान्त प्रत्यक्ष एक अन्य भ्रान्त प्रत्यक्ष के द्वारा बाधित हो सकता है, अतः अनुभव के क्षेत्र में हम जब दो परस्पर बाधक प्रत्यक्षों को पाते हैं तो इस संभावना को स्वीकार कर सकते हैं कि दोनों प्रत्यक्ष भ्रान्त प्रत्यक्ष हों। इस प्रकार दो परस्पर विरोधी प्रत्यक्षों के उदाहरणों की तीन व्याख्याएँ हो सकती हैं :

१. कम से कम एक प्रत्यक्ष है।

२. कम से कम एक प्रत्यक्ष निभ्रान्त हो सकता है।

३. दोनों प्रत्यक्ष भ्रान्त हो सकते हैं।

हम एयर के इस प्रश्न पर विचार कर रहे थे, जो एक संदेहवादी से पूछा जा सकता है, कि "हम यह कैसे पता लगा सकते हैं कि कुछ प्रत्यक्ष भ्रामक हैं जब तक हमें यह ज्ञात न हो कि कुछ ऐसे भी हैं जो विश्वसनीय भी हैं?" उत्तर में उपरोक्त व्याख्या दी जा सकती है जिस से यह परिणाम निकलता है "कि हम बगैर इस ज्ञान के, कि कौन से प्रत्यक्ष विश्वसनीय हैं, यह पता लगा सकते हैं कि कुछ प्रत्यक्ष भ्रान्त हैं"।

और भी, संदेहवादी केवल इतना ही नहीं कहता कि हम यह कभी नहीं कह सकते कि प्रत्यक्षीकरण की अमुक घटना एक निभ्रान्त प्रत्यक्षीकरण की घटना है; प्रत्युत वह इस सीमा तक सार्थकतया कह सकता है कि संभव है कि प्रत्यक्षीकरण की सभी घटनाएँ भ्रान्तियाँ हों। यह तथ्य उस समय स्पष्ट हो जाता है जब कतिपय अनुभव एक-दूसरे का बाध करते हैं। हम सब कह सकते हैं कि यह आवश्यक है कि इनमें से कुछ प्रत्यक्ष भ्रान्त हैं, (यद्यपि हम यह हाँगत नहीं कर सकते कि यह प्रत्यक्ष भ्रान्त है) और यह भी कि संभव है कि सभी अनुभव भ्रान्त हों। संदेहवादी के अनुसार, 'कुछ प्रत्यक्ष भ्रान्त हैं' इस तथ्य को हम जान सकते हैं, किन्तु इस तथ्य को कि 'कुछ प्रत्यक्ष निभ्रान्त हैं' हम कभी नहीं जान सकते।

अतः एयर के प्रश्न का उत्तर यह होगा कि यह पता लगाने के लिए कि कुछ बाह्याभास भ्रामक हैं यह आवश्यक नहीं है कि हम जानते हों कि कुछ बाह्याभास ऐसे भी हैं जो विश्वसनीय हैं। इसके लिए इतना भर अपेक्षित है कि 'विश्वसनीय बाह्याभास' का अर्थ हम समझते हों और 'विश्वसनीय बाह्याभासों' के घटित होने की कम से कम संभावना हो।

संदेहवादी के प्रश्न के उत्तर में एयर कहते हैं, यदि मैं अपनी त्रुटियों को ठीक करने की स्थिति में न होऊँ तो मैं यह जानता नहीं कहा जा सकता कि वे त्रुटियाँ हैं। इस कथन को एयर ने बिना कोई प्रश्न उठाए स्वीकार किया है (यहां 'त्रुटियों को ठीक करना' का अर्थ है निभ्रान्त प्रत्यक्ष के ज्ञान की स्थिति में होना)। किन्तु संदेहवादी का वही प्रश्न उठ खड़ा होता है

‘हम कैसे जानते हैं कि अमुक प्रत्यक्ष सही प्रत्यक्ष हैं ?’ जिसका कि एयर ने उत्तर देने की चेष्टा की थी। इसका यह उत्तर नहीं दिया जा सकता कि ‘क्योंकि सही प्रत्यक्षों के ज्ञान के बिना हम भ्रान्त प्रत्यक्षों को नहीं जान सकते, और हम भ्रान्त प्रत्यक्षों को जानते हैं, अतः हमें सही प्रत्यक्षों का भी ज्ञान है।’ यहाँ प्रथम वाक्य, जिसे सिद्ध करना है, पूर्व स्वीकृत है अतः इस युक्ति में अन्योन्याश्रय दोष है। यहाँ उसी वाक्य को मान्यता दी गयी है जिसकी सत्यता से संदेहवादी इन्कार करता है।

आगे, इस तथ्य को मान्यता देते हुए भी कि प्रत्यक्षों के निर्णय अविश्वसनीय नहीं हो सकते जबतक कुछेक निर्णय विश्वसनीय न हों, एयर इसे भी पर्याप्त नहीं समझते कि केवल कुछ विश्वसनीय प्रत्यक्ष हों। उनकी विश्वसनीयता का प्रमाण क्या है ? इस आवश्यकता को स्वीकार करते हुए वे कहते हैं, ‘हमें अपने इस दावे को पुष्ट बनाना होगा कि हम जानते हैं कि कुछ एक विशिष्ट (अनुभव भ्रान्त) नहीं हैं’।

उन्होंने ‘विश्वसनीयता के प्रमाण’ की आवश्यकता को स्वीकार किया है (संदेहवादी भी यही मांग करता है) किन्तु यहाँ उन्होंने यह उल्लेख नहीं किया कि ये प्रमाण क्या और कैसे हो सकते हैं ?

और आगे वे स्वीकार करते हैं कि “इस तथ्य से कि हमारा इन (अनुभवों) में से कुछ को अस्वीकार करना इन में से कुछ को स्वीकार करने पर आधारित है, यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि जिन (अनुभवों को) हम स्वीकार करते हैं वे सत्य हैं।”† अतः वे यह मान लेते हैं कि वे प्रत्यक्ष, जिन्हें हमने विश्वसनीय या निर्भ्रान्त प्रत्यक्ष स्वीकार किया है, यह सिद्ध किये जाने की अपेक्षा करते हैं कि वे सत्य हैं। यहाँ एयर और संदेहवादी के दृष्टिकोण समान दीखते हैं, यद्यपि एयर अनुभवों की सत्यापनीयता का विवेचन नहीं करते। किन्तु वे फिर भी यह दावा करते हैं कि उनकी उपरोक्त युक्ति “प्रदर्शित कर देती है कि संदेहवाद के विभिन्न सामान्य स्वरूपों का अनुभव के क्षेत्र में कोई औचित्य नहीं है।” हमारे विचार में यह स्पष्ट नहीं है कि कैसे इस युक्ति के द्वारा संदेहवाद का अनौचित्य प्रदर्शित किया जा सकता है।

लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

~~500~~ of. Philosophy of logical Construction
by. H.K. Ganguli

P. 125-26 (Pratt's criticism of ~~Pratt's~~ view)

P. 135.

188-89 ~~Pratt's~~ position vindicated & Russell
& ~~Pratt's~~

बाह्य पदार्थों की अनुमेयता और अभिनवगुप्त

नवजीवन रस्तोगी

ईविंग ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'आइडियलिज्म : ए क्रिटिकल सर्वे' में एक सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि ऐतिहासिक रूप से शायद यह कहना सही होगा कि प्रत्ययवाद (आइडियलिज्म) का पहलेपहल विकास प्रत्यक्ष के प्रतिबिम्बवादी (रिप्रेजेंटेटिव) सिद्धान्त से हुआ है। यह माना जाता था कि हमें भूत पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं होता अपितु उनसे जन्म लेने वाले विज्ञानों या प्रतिबिम्बों का प्रत्यक्ष होता है। तब से यह समस्या उठती रही है कि हमें यदि प्रारंभ से बाह्य पदार्थों का सीधा अनुभव न होकर केवल अपने विचारों या विज्ञानों का ही होता है तो फिर यह बताना कठिन है कि हम कैसे विज्ञान-सामग्री से बाह्य पदार्थों को निगमित कर सकते हैं। बर्कले और ह्यूम के दार्शनिक पल्लवन के पीछे संभवतः यही ऐतिहासिक आधार रहा है।

भारतीय दर्शन के विकास में भी ठीक एक ऐसा ही अध्याय हमें देखने को मिलता है। बौद्धों के सौत्रान्तिक सम्प्रदाय के लिए बाह्य पदार्थों का अपना अस्तित्व है और उन्हें उनके ज्ञानगत प्रतिबिम्बों से जाना जा सकता है। स्वयं योगाचार सम्प्रदाय के विज्ञानवादियों को और काश्मीर दर्शन के आचार्यों को विशुद्ध विज्ञानतत्त्व की स्थापना में इन सौत्रान्तिकों से गहरी और कठिन टक्कर लेनी पड़ी है। पदार्थ सत् और अनुमेय है, यह सौत्रान्तिक मत है और इस मत को बाह्य पदार्थानुमेयवाद की संज्ञा दी गई है।

धर्मकीर्ति की 'न्यायविन्दु' और उस पर धर्मोत्तर की प्रसिद्ध टीका के अतिरिक्त उत्पल की 'प्रत्यभिज्ञा कारिका' और उस पर अभिनवगुप्त की विद्वत्तापूर्ण टिप्पणियों में इस मत का विस्तृत उल्लेख मिलता है। अभिनवगुप्त ने, जिनके विवेचन तक ही यह निबन्ध सीमित है, इस मत को पूर्वपक्ष के रूप में रखा है। हम देखेंगे कि अभिनव का यह उपस्थापन मूल सौत्रान्तिक विचारधारा का कितना सच्चा अनुयायी है, और जिन जिन युक्तियों से अभिनव ने उनकी परीक्षा की है उनका दार्शनिक आधार क्या है।

सौत्रान्तिकों की गिनती सर्वास्तित्वादी बौद्धों में होती है। सौत्रान्तिक सद्वादी (realist) हैं। बाह्य पदार्थों का अपना अस्तित्व है पर वे प्रत्यक्ष के विषय नहीं हैं। इस दृष्टि से वे वैभाषिक बौद्धों से भिन्न हैं जो बाहरी वस्तु को प्रत्यक्ष का विषय मानते हैं। ज्ञान बाह्य वस्तुओं का कार्य है। ज्ञानकार्य के कारणरूप में बाह्य वस्तुओं का अनुमान होता है। इस प्रकार वे सौत्रान्तिक प्रत्यक्ष के प्रतिबिम्बवादी सिद्धान्त (रिप्रेजेंटेटिव थ्योरी) के समर्थक हैं। यहां यह

बात ध्यान देने योग्य है कि बाह्य वस्तुओं को अनुमेय बना कर भी वह विज्ञानवाद में प्रवेश नहीं करता। बाह्यता की अनुभूति अनुमान का विशेष अंग होती है, उसको दूर नहीं किया जा सकता। बाह्यता विज्ञानों में नहीं किन्तु पदार्थों में है।^५

विज्ञानवाद की आलोचना में मीमांसकों द्वारा प्रयुक्त इस तर्क का उपयोग सौत्रांतिक ने भी किया है कि बाह्य पदार्थ को माने बिना विज्ञानों की विचित्रता और विविधरूपता की व्याख्या नहीं की जा सकती। उसके अनुसार बाह्य पदार्थ ज्ञान को जन्म देते हैं और उस पर अपनी छाप छोड़ जाते हैं। फल यह होता है कि ज्ञान का आकार बाहरी वस्तु के आकार के समान रहता है। विषयाकार और ज्ञानाकार के बीच का यह सारूप्य (कारेस्पॉन्डेन्स) ही सत्यता और प्रामाणिकता का नियामक है। इस दृष्टि से सौत्रांतिक की धारणा सत्य के सारूप्यवादी सिद्धान्त (कारेस्पॉन्डेन्स नोशन ऑफ ट्रूथ) के काफी निकट है।

प्रत्यक्ष का प्रतिबिम्बवादी सिद्धान्त प्रत्यक्ष सम्बन्धी कारणात्मक धारणा पर आधारित है। अर्थात् प्रत्यक्ष कार्य है और वस्तु कारण। देकार्त^६ और लॉक दोनों में इस बात को लेकर समानता है कि भूत पदार्थों का साक्षात् अनुभव संभव नहीं है, इनका अनुमान होता है।^७ विचार वस्तुओं के चिह्न हैं और वे वस्तु का अनुमान कराते हैं।

अभिनवगुप्त ने सौत्रांतिक मत के उपस्थापन के लिए जो स्पष्टीकरण दिया है उसका मूल उनका तत्त्वदर्शनन ही है। उनका लक्ष्य है संवित् (इंटेलिजेन्स) की परम सामर्थ्य को स्थापित करना जो समस्त क्रम, अक्रम, कार्यकारणभाव और विचित्र भेद भरी विश्वरूपता के लिए उत्तरदायी है। संवित् का यह वैचित्र्य अपना निजी है, यह बिना संदेह के तभी माना जा सकता है जब संवित् की विविधरूपता में सौत्रांतिकों द्वारा मान्य बाह्य पदार्थ रूप हेतु टूट जाय। इसी दृष्टि से अभिनवगुप्त का सारा विवेचन हुआ है।

सौत्रांतिक भी बोध या संवित् को अपने आप में एकरूप, अभिन्न मानता है। बोध या संवित् विचित्रता से परे है इसलिए ज्ञान या बोध में होने वाली इस विचित्रता का कारण टूटना होगा। यह कारण ज्ञान में वस्तु के प्रतिबिम्ब को देने वाला है और उस प्रतिबिम्ब की ही जाति का है। प्रतिबिम्ब के कारण को बिम्ब कहते हैं और यह बिम्ब 'क' आदि रूप बाह्य वस्तु ही है, चूँकि इस बिम्बभूत कारणरूप बाह्य पदार्थ का ज्ञान प्रतिबिम्बरूप लिंग या हेतु (माइनर टर्म) से होता है इसलिए इसे अनुमेय या अनुमान का विषय कहते हैं। तब भी 'यह क है' यह अभ्यवसाय प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है। अतः 'यह क है'—ज्ञान को साधारण तौर पर प्रत्यक्ष कहते हैं। कारण यह है कि जो प्रमाण जिस विषय में जिस तरह से अभ्यवसाय को जन्म देता है उसको वहाँ पर उसी तरह से ग्रहण करते हैं।^८ अर्थात् 'यह क है' ज्ञान हमें प्रत्यक्ष से हो रहा है; इस प्रत्यक्षात्मक ज्ञान से हम क वस्तु का अनुमान करते हैं।

बाह्यार्थवादी के लिए पदार्थ संवित् से भिन्न है। 'क' का रूप यदि असंविद्रूप है, ज्ञान-बाह्य है, तो फिर उसका ज्ञान नहीं होना चाहिये। पर 'यह क है ख है' यह ज्ञान होता ही है। यदि क ख ज्ञानरूप हो तो हमें 'यह क है' के स्थान पर 'मैं क हूँ' की प्रतीति होनी चाहिए। इस से स्पष्ट है कि संवित् या ज्ञान में रूपान्तर नहीं होता। और यह अभिन्न बोध या ज्ञान

कभी 'क' पदार्थ के ज्ञान के रूप में, कभी 'ख' के रूप में भासित होता है। ज्ञान की इस विविध भासनता में कोई कारण सामने नहीं है, क्योंकि कारणता सिद्धान्त की दृष्टि से कार्य-कारण के अभिन्न होने पर कार्य में भेद असंभव है। हेतु-भेद के आधीन ही कार्य-भेद रहता है अतः कारण के अभाव में यह विविध ज्ञान आकस्मिक (ऐक्सिडेन्टल), अर्थात् बिना किसी आलम्बन के, उत्पन्न माने जाएंगे। कौन किस से उत्पन्न हुआ है, प्रत्यक्ष से इसका उत्तर मिलेगा नहीं।^{१०} अतः यह ज्ञान बाह्य पदार्थ का अनुमान कराता है। बाह्यता पदार्थ के विशिष्ट धर्मों का संकेत करती है। विज्ञान का स्वभाव है ज्ञानाकर्तया भासित होने वाली प्रतिबिम्ब रूपता, और इस स्वभाव का सम्पादक है यह पदार्थ। प्रतिबिम्ब बिम्ब के समान होता है, अतः यह ज्ञानाकार के सदृश भी है और साथ ही अनन्त भेदों से युक्त भी है।^{११}

इस से यह सिद्ध है कि यह बाह्य^{१२} चेतना का एक प्रकार (मोड) मात्र नहीं है, यह प्रदत्त है। यह प्रमाता से भिन्न है और अनात्म स्वभाव है। अनुमान के सिवाय इसे और किसी से जानने का उपाय नहीं है। यहाँ अनुमान का रूप है कि विज्ञान के अंदर रहने वाला, 'क' आदि ज्ञान अपने जैसे हेतु की अपेक्षा करता है, क्योंकि यह प्रतिबिम्ब है, दर्पणगत प्रतिबिम्ब की भाँति। अतः 'क' ज्ञान के सदृश ही 'क' पदार्थ है, यह अनुमान से सिद्ध होता है। बाह्य अर्थ देश और काल के कारण भिन्न है, इसलिए उस से उत्पन्न आकार वाले संवेदन भी विभिन्न हैं।^{१३}

यहाँ पर प्रमाण मीमांसा की तरफ से एक प्रश्न उठाया गया है—अनुमान उसी का होता है जिसकी व्याप्ति का ग्रहण हो चुका है। यहाँ बाह्य पदार्थ को अनुमान का विषय माना गया है। इस बाह्य को कभी प्रत्यक्ष से तो देखा नहीं गया है, अतः इसकी व्याप्ति का ग्रहण भी नहीं हुआ है, यह मानना होगा। ऐसी स्थिति में इसका अनुमान कहाँ तक संगत है? सौत्रांतिकों ने समझाया है^{१४} इन्द्रिय-अनुमान^{१५} को दृष्टान्त बना कर। पूरे भारतीय दर्शन में इन्द्रिय का ज्ञान अनुमान से माना गया है। इन्द्रिय का कभी भी प्रत्यक्ष से ग्रहण नहीं हुआ है, फिर भी उसका अनुमान होता है। क्योंकि ज्ञान के कारण (इन्स्ट्रूमेन्ट) रूप से तो व्याप्ति का ग्रहण हुआ है अतः इन्द्रिय का अनुमान भी कारण मात्र के ही रूप में होता है, परन्तु व्यवहार में हमारा संकेत इन्द्रिय विशेष, आँख कान आदि की ओर होता है, कारण यह है कि यह कारण तथा अनुमित इन्द्रिय अपने आवार के आग्रह से^{१६} विशेष का ही सहारा ढूँढती है। रंग के ज्ञान में जो अपने में रहने वाला (आत्मकर्त्ता) नियत कारण है वह आँख^{१७} है, उसी प्रकार यहाँ पदार्थ ग्रहण में भी आशय है। अर्थात् पदार्थ की व्याप्ति का ग्रहण ज्ञानाकारों के प्रति कारणरूप में होता है।

इस कारणानुमान में एक खास बात छिपी है। इन्द्रिय से जन्मने वाले प्रत्यक्ष संवेदनरूप ज्ञानों का इन्द्रिय सचमुच कारण है, न कि विषय। क्योंकि उन ज्ञानों द्वारा 'इन्द्रिय देखता हूँ' यह अध्यवसाय नहीं देखा जाता। इन्द्रिय अनुमान का ही विषय है क्योंकि उस अध्यवसाय (रूपाध्यवसाय) से ही इसका भी अध्यवसाय होता है।

यदि यह मान भी लिया जाय तो जिसका पहले ग्रहण नहीं हुआ उसका आँखों देखे रूप

में अभ्यवसाय कैसे होता है ? कहते हैं, यह बात सारूप्य (कारेस्पॉन्डेन्स) के कारण संभव होती है । १८ ज्ञान के अन्दर रहने वाले 'क' आदि का देश-काल के साथ साथ चलने वाला जितना कुछ भी स्वरूप-वैचित्र्य है उतना ही सारे का सारा उसके समर्पक कारण का भी । इससे ज्ञान का आकार विषय अभ्यवसाय उत्पन्न होता है । 'देखता हूँ' इस प्रकार के अभ्यवसाय का ग्रहण प्रत्यक्ष से होता है १९ पर अनुमान का व्यापार मूल कारणभूत, आकारों के अर्पक और उन आकारों के समान वस्तु में होता है । यदि इस अभ्यवसाय से बाह्य पदार्थ का अनुमान न हो तो बाह्यता के अभ्यवसाय में प्रमाण का कोई फल न होगा और यदि बाह्य-वस्तु का ग्रहण न हो तो मृग-मरीचिका की जगह भी जल का अभ्यवसाय होगा । किन्तु उसके विषय जल का ग्रहण न होने पर वह अभ्यवसाय अप्रमाणिक होगा । यदि अभ्यवसाय न हुआ तो प्रतिबिम्ब रूप हेतु बाहरी पदार्थ को सिद्ध न कर सकेगा । फलतः प्रत्यक्ष से देखे गए किसी भी पदार्थ से लौकिक व्यवहार संभव न हो पाएगा । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जैसे ज्ञानों में इन्द्रिय के उपयोग के कारण उसका अनुमान होता है वैसे ही बाह्य विषय का अनुमान होता है, और इस बात तक हम अभ्यवसाय के द्वारा पहुँचते हैं । इस प्रकार सौत्रांतिक की दृष्टि में विषयता का ज्ञान चेतना के प्रकारों से निगमित नहीं किया जा सकता । संवेदन विषय (कान्टेन्ट) का अनुभव है इससे विषय और संवेदन की एकात्मता को सिद्ध नहीं होती ।

स्वाभाविक है कि अद्वैतवादी अभिनव को यह तर्क रुचिकर नहीं लगते । पदार्थ है पर उसका संवित् से अलग व्यक्तित्व नहीं है । बाह्यता उस संवित् की अभिव्यक्ति की एक विधा मात्र है । इस दृष्टि से अभिनव ने सौत्रांतिक विचारधारा के विरुद्ध जो मुख्य आपत्तियाँ उठाई हैं उन्हें हम क्रम से देखेंगे ।

सौत्रांतिक के तर्कों का मूल स्वर है कि बाह्य वस्तु को माने बिना हमारे साधारण व्यवहार की व्याख्या नहीं की जा सकती । किन्तु देखा जाए तो अनुमान-सिद्ध बाहरी पदार्थों से भी कोई मतलब सिद्ध नहीं होता । सौत्रांतिक द्वारा अर्थप्रतिबिम्बरूप में कल्पित वस्तुओं से ही व्यवहार चल जाता है । २० हमेशा वस्तु का अनुमान करके व्यवहार नहीं होता, अतः व्यवहार के लिए अनुमेय बाह्य पदार्थ की आवश्यकता नहीं पड़ती । २१ प्रमाण का कार्य है वस्तु का प्रकाशन । यदि वस्तु ज्ञान से भिन्न है तो उसकी अनुमेयता का अर्थ है २२ कि उसका प्रकाशन नहीं होता । २३ इसी प्रसंग में एक बात और कहा जा सकता है । व्यावहारिक प्रयोजन, जिसे अर्थ-क्रिया कहते हैं, की सिद्धि की दृष्टि से भी सौत्रांतिक बाह्य पदार्थ की कल्पना करता है, परन्तु स्वयं यह अर्थक्रिया भी व्यवहार के समय प्रतिबिम्ब के रूप में ही जानी जा सकती है । वह अर्थक्रिया भी ज्ञानाकार है, इससे बाह्य सिद्ध नहीं होता । २४

अभिनव का दूसरा तर्क करीब करीब सभी प्रत्ययवादी विचारकों से मिलता है । अन्तर इतना है कि अभिनव संवित् (इन्टेलिजेन्स) को स्वातंत्र्य रूप मानते हैं । यह उस संवित् का स्वातंत्र्य है जो अन्तःस्थ भावों को बाहरी रूप से भासित करता है । इसीसे बाहर आभासित होकर भी संवित् से बाहरी पदार्थों की एकता सुरक्षित रहती है क्योंकि बाह्यता का अर्थ पृथक्

होना न होकर केवल पृथक् रूप से भासित होना है। हम देखते हैं कि बाह्य विषय में भी चेतना का अंश होता है, वह भी उसी संवित् का अंश है। यह एकात्मता हमारी साक्षात् प्रतीति का अंग भी है। हमारे अनुभव का आकार क्या है, यही तो कि 'क है' या 'क का भाव' हो रहा है? यहां पर 'क', जिसे हम ज्ञान द्वारा विषय कर रहे हैं, उस ज्ञान से अधिक तो कुछ भी नहीं है, अतः प्रत्यक्ष से भी व्यवहारिक विषयों की बाह्यता प्रमाणित नहीं होती। २५

सौत्रांतिक के लिए किसी विषय में प्रमाण की प्रवृत्ति उस प्रमाण से उत्पन्न अभ्यवसाय पर निर्भर करती है। 'यह क है' इस प्रत्यक्ष ज्ञान का प्रामाण्य अभ्यवसाय पर आधारित है, पर यह बात भी कसौटी पर नहीं टिकती। प्रत्यक्ष की अभ्यवसाय सापेक्षता का मतलब यह है—क-रूप स्वसंवेदन में प्रत्यक्ष का व्यवहार होता है यह व्यवहार विकल्प-मूलक है, अर्थात् प्रत्यक्षा-ज्ञान का अभ्यवसाय होता है, प्रत्यक्ष-विषय का नहीं। विषय का ग्रहण हुआ नहीं है अतः अग्रहीत विषय (क रूप वस्तु) का ग्रहीत रूप में अभ्यवसाय कराने के कारण प्रत्यक्ष की प्रामाणिकता टह पड़ती है। २६

अभिनव की चौथी और सबसे महत्वपूर्ण युक्ति है कि बाह्य पदार्थ की सिद्धि में एक तो अनुमान व्यापार की संभावना नहीं है और अगर किसी तरह अनुमान की प्रवृत्ति हो भी जाय तो वह बाह्य पदार्थ की सिद्धि नहीं करता। २७ इस प्रकार प्रत्यक्ष ^{प्र}अनुमान किसी से संविद्-भिन्न बाह्य पदार्थ की सिद्धि नहीं होती। २८ अभिनव का कहना है कि पदार्थ की अनुमेयता का सवाल दर्शन की एक दूसरी अधिक मौलिक समस्या से गुँथा हुआ है। समस्या का रूप है—ज्ञान के सम्बन्ध में वस्तु का स्वरूप और स्थान क्या है? यह सारी बहस संवित् और पदार्थ-वैचित्र्य के आपसी संबंध को लेकर है। हम दो प्रकार की चीजें देखते हैं—एक तो हम दर्पण में प्रतिबिम्बित घट को देखते हैं, अर्थात् प्रतिबिम्ब किसी सदृशात्मक की छाया है। यही संबंध संवित् और उसमें प्रतिबिम्बित पदार्थ का है। अर्थात् वस्तु की अपनी सत्ता है और वह ज्ञान के आश्रित नहीं है, और दूसरे कुछ अपनी शक्ति से उल्लसित होता है, जैसे स्वप्न में। स्वप्न और स्वप्नगत पदार्थ की तरह संवित् और उसका विषय एक-रूप है। अतः हमें निश्चय करना होगा कि हमारे ज्ञान में आने वाला यह सारा पदार्थ-जगत् अपने से भिन्न किन्तु सदृश पदार्थ के संक्रमण के कारण है या स्वप्न की तरह से अपने बोध स्वातंत्र्य से उल्लसित हुआ है? २९

हम परीक्षा करेंगे कि अनुमान हमें किस निश्चय पर पहुँचाता है।

इस बात में सब एकमत हैं कि अनुमान विकल्प रूप होता है और विकल्प वहीं होता है जिसका अनुभव हो चुका है। प्रश्न है कि क्या इन्द्रिय-अनुमान में पहले अनुभव हो चुका है? इसे मानना ही होगा, क्योंकि इन्द्रिय का अनुमान हम विशेष रूप से न करके प्रत्यक्ष ज्ञान के कारण सामान्यरूप से करते हैं। कारणता का सामान्य प्रत्यक्ष हमें बीज से अंकुर और मिट्टी से घट आदि स्थलों में पहले हो चुका है। यहां बीज या मिट्टी का ग्रहण विशुद्ध कारणरूप में होता है। अनुमान एक प्रकार का विकल्प व्यापार ही है। वस्तु का अनुमान

ठीक वैसा होगा जैसाकि विकल्प से उस वस्तु का सम्बन्ध है, अर्थात् सामान्य या विशेष जिस तरह से उसका अनुभव हुआ है। इन्द्रिय का अनुमान उपलब्धि के कारण रूप में होता है और कारणता का ग्रहण प्रत्यक्ष से हो चुका है, अतः सामान्यतौर पर इन्द्रिय का पूर्व अनुभव हो चुका है, इसलिए सामान्य साधन से ही उसका अनुमान भी होता है। प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ (न पाया जाना) से कार्यकारण भाव की सिद्धि करते हैं। 'मिट्टी का घड़ा' प्रत्यय में जो जिसका नियमित रूप से अनुविधान करता है वह उसका कारण है। इस प्रकार कारण सामान्य अवभात ही है। इससे वस्तु के रंग और रूप का ज्ञान जिसका नियमपूर्वक अनुविधान करता है वह आँख है। इस प्रकार कारण भाव पूर्वक ही प्रमाण का ग्रहण होता है। अतः इसका सामान्यतो दृष्ट (सामान्य रूप से देखा गया) नाम उचित है। ३०

एक क्षण के लिए हम यहां रुकेंगे। इस स्थापना में सौत्रांतिक की एक और आलोचना छिपी है। हर वस्तु का प्रत्यक्ष या अनुभव सामान्य या विशेष ढंग से होता है, दूसरे शब्दों में हर चीज़, जिसका कुछ भी नाम है या दिया जा सकता है, प्रत्यक्ष का विषय है। भास्कर ने यहां पर संकेत किया है कि स्वलक्षण का, वस्तु के असाधारण स्वभाव का, प्रत्यक्ष तो बौद्ध मानते ही हैं ३१; हां, स्फुट बोध में विकल्प अवश्य आते हैं। अतः पदार्थ अनुमेय हैं, यह प्रतिज्ञा खंडित हो जाती है।

इसी प्रसंग में अभिनव ने बौद्धों पर एक कटाक्ष भी किया है। सौत्रान्तिक यह मानते हैं कि विकल्प वस्तु के स्वरूप को नहीं छूते। ३२ किन्तु सौत्रान्तिक विकल्प के बल पर बाह्य वस्तु की सिद्धि करना चाहता है। उसके लिए अभ्यवसाय का विषय वस्तु का ज्ञान है न कि वस्तु, वस्तु तो अनुमेय है। पर अनुमान विकल्प रूप है अतः बाह्य वस्तु के स्वरूप का बोध अनुमान से हो ही नहीं सकता। सौत्रांतिक का अपना सिद्धान्त ही उसे काट बैठा है। ३३ अभिनव मानते हैं कि अभ्यवसाय का विषय केवल ज्ञान ही नहीं अपितु ज्ञान में भासित होने वाला विषय भी है। ३४ अतः उसे अनुमान से जानने की आवश्यकता रह नहीं जाती। सहज ही कहा जा सकता है कि यदि अनुमान-विकल्प बाह्य पदार्थों को छूता भी नहीं तो बाह्य पदार्थ को अनुमानगम्य मान भी लिया जाय ता वह अनुमिति या ज्ञान से एकरूप रहकर ही उभरता है। उस समय अनुमेय होकर भी वह बाह्य नहीं रहता।

अभिनव गुप्त ने बाह्यानुमेयवाद की जड़ पर ही चोट की है। दर्पणगत प्रतिबिम्ब का बाहरी बिम्ब सिद्ध रहता है, क्योंकि उसका सदृशहेतु हमारे अनुभव का विषय है। इस दृष्टांत का लेकर सौत्रांतिक ने ज्ञानों या ज्ञानाकारों के कारणरूप में बाह्य पदार्थ की अनुमानसिद्धि की है, पर यह दृष्टान्त ही गलत है। वहां कौन क्या अर्पित करता है यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता; दूसरे, सदृश हेतु के बिना ज्ञानाकार का जन्म नहीं होता, यह सिद्धान्त स्वप्न और द्विचन्द्र (आँख के दबाने पर दो चाँदों का दिखाई पड़ना) जैसी घटनाओं की व्याख्या नहीं कर पाता। इसके अलावा, विषय का आकार ज्ञान के आकार का कारण माना जाता है। यदि यह सही है तो यह भी कहना उचित होगा कि गजाकार के कारण दर्पण भी गजाकार हो जाता है ३६। और चूँकि बौद्ध अपनी जैसी (आत्म सदृश) सन्तान की अनुवृत्ति

मानता है इससे गज के हट जाने पर भी दर्पण की गजाकारता बनी रहेगी। इसी से यह कहना अनुचित न होगा कि उस उदाहरण में पारमार्थिक कारणता न होकर बिम्ब-प्रतिबिम्ब का व्यवहार भर है।^{३७} यह भ्रम है वस्तु सत्य नहीं, पर सौत्रांतिक के लिए ज्ञानाकार और विषयाकार में कारणता इसी दृष्टांत से सिद्ध की जाती है।

परन्तु दृष्टान्त के निर्दोष न होने पर भी बाह्यार्थानुमेयवाद में ज्ञान और विषय में कारणता-सम्बन्ध तो रहता ही है। इसीलिए पदार्थ ज्ञान की अपेक्षा पहले या पूर्वकालिक होता है। जिसे हम पदार्थ की प्रमेयता कहते हैं वह ज्ञानाकार को जन्म देने में समर्थ कारणता के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।^{३८} पर देखा जाए तो यह निर्णय प्रमाणसम्मत नहीं। ज्ञान-विषय और ज्ञान में कालभेद नहीं होता, क्योंकि 'मैं यह जान रहा हूँ' यह अध्यवसाय एक समय में ही हो सकता है। अतः यह कहना निस्सार है कि बाह्य आकार का प्रत्यक्षतया अध्यवसाय होता है और उस अध्यवसाय के आचार पर बाह्य सिद्ध है। क्योंकि इन दो क्षणों (विषय या कारण-क्षण और ज्ञान या कार्य-क्षण) में विषय क्षण, जो हेतु है, उस ज्ञान के सदृश है यह बात नहीं सधती। दर्पण प्रतिबिम्ब में हमें बिम्ब भी उपलब्ध है—दोनों के सादृश्य से यही निश्चय होना है। पर यहाँ ज्ञानाकार में तो बिम्ब के कुलशील का पता भी नहीं है तो बिम्ब प्रतिबिम्ब में सादृश्यता का निर्वारण कैसे होगा। अतएव यदि अनुमान के पहले प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति हो तो संवेदकता के क्रम में अनुमान को बाद में रखा जा सकता है। यहाँ ऐसी स्थिति तो है नहीं। अतः बाह्य पदार्थ अनुमेय है, यह चल नहीं पाता।

और यदि बिम्ब प्रतिबिम्ब या ज्ञानाकार और विषयाकार जैसे एक ही चीज के दो आभास न माने जाएँ तब भी बाह्य प्रत्यक्षगम्य होगा अनुमानगम्य नहीं। प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय है—'देखता हूँ' या 'क को देखता हूँ'—यहाँ एक ही 'क' प्रत्यक्ष का विषय है, वही बाह्य है। दूसरे ज्ञान भिन्न क की खोज से कोई लाभदायक फल निकलने का नहीं। दूसरे शब्दों में 'क रूप' एक ही है। यह ज्ञानवर्ती है अतः ज्ञान से अलग रूप में वह भास नहीं सकता। यह ज्ञान से अभिन्न है। इसलिए दर्पणगत आकार की भाँति उसका समर्पक दूसरा आकार आभासिक नहीं होता।^{३९}

यद्यपि अनुमान विकल्प रूप है, फिर भी यह एक विशेष प्रकार का विकल्प है। अभिनव ने अनुमान की परिभाषा करते हुए कहा है कि देश और काल से विशिष्ट प्रवृत्तियोग्य अर्थ के सम्बन्ध में प्रमाण का जो अविस्वादी विकल्परूप व्यापार है वही अनुमान है।^{४०} इसीलिए 'घड़ा', 'दस अनार', 'वह रस', 'नदी किनारे', 'जहाँ धुआँ है' आदि विकल्प प्रमाण नहीं हैं क्योंकि वे प्रवृत्तियोग्य विषय के सम्बन्ध में नहीं हैं। अनुमान इस तरह प्रमाण के विकल्पों से भिन्न है। इस भेद का कारण है उसका व्याप्ति पर आश्रित होना। व्याप्ति का रूप है "जहाँ धुआँ है वहाँ आग है"। पर्वत में जिस आग की संभावना की गयी है वह उस व्यक्ति के द्वारा स्वीकृत है क्योंकि व्याप्ति का ग्रहण हमेशा सामान्यरूप से होता है। पहाड़ पर इस व्याप्ति से विशिष्ट आग की सिद्धि होती है। सौत्रांतिक को शंका हो सकती है कि इस प्रकार अनुमान का विषय विशेष हो सकता है, सामान्य नहीं। अतः इन्द्रिय का सामान्य-

रूप से अनुमान संभव नहीं। अभिनव इन्द्रिय का कारण—सामान्य के रूप में अनुमान मानते हैं। इसकी स्थापना में उन्होंने सौत्रांतिकों के ही तर्क का उनके विरुद्ध प्रयोग किया है। इन्द्रिय के सामान्य रूप से अनुमान करने में कोई कठिनाई खड़ी नहीं होती। क्योंकि अन्वय व्यतिरेक के उपरान्त पक्षधर्मता नाम का अनुमान का एक तीसरा अंग भी है। वह वर्तमान प्रत्यक्ष से ज्ञात है। इस प्रत्यक्ष से अनुगृहीत व्याप्ति विशेष को अनुमान का विषय नहीं बनाती क्योंकि यह विशेषांश प्रत्यक्ष से सिद्ध है और व्याप्ति में आधाराधेय भाव का 'जहाँ जहाँ, वहाँ वहाँ' स्फुरण होता है।

इस प्रकार अभिनव के लिए सब कुछ संवित् से एकरूप है। एकरूपता में कार्य-कारण भाव नहीं पलता। संवित् और जड़ पदार्थ में यही अन्तर है कि उसके प्रकाश की सीमा नहीं है, वह 'क' के रूप में भी भासित होती है और 'ख' के रूप में भी। पदार्थों में भेद या कारणता उस संवित् की अभिव्यक्ति है।^{४१} अतः बाह्य का अर्थ है संवित्-बाह्य, और वह एक असंभावना है। अतः पदार्थ आन्तरिक है। सौत्रान्तिक की बाह्य वस्तु का निषेध कर लेने के कारण शैव चिन्तक के लिए बाहरी विषयों की आन्तरिकता और संवित् से अभिन्नता का अभ्युपगम सरल हो जाता है और ज्ञानगत भेद की व्याख्या के लिए हमें संवित् से दूर नहीं जाना पड़ता।

वस्तुतः सौत्रान्तिक और शिवाद्वैती का यह विचार-भेद उनके दार्शनिक मूलाधार में ही विभेद का संकेत करता है। शैव मत में एक परम सत्य का ही अस्तित्व है, सारा पदार्थ जगत् उसी संवित् से स्फुरित होता है, अतः संवित् से पृथक् उसे स्वीकार करने का अर्थ होगा आत्मघात करना। सौत्रान्तिक बाह्यास्तित्ववादी है। बाह्य जगत् में विश्वास करने का अर्थ है कि बाह्य वस्तुओं का स्वतन्त्र अस्तित्व माना जाए, अन्यथा ज्ञान और वस्तु के विशिष्ट धर्मों का संकेत नहीं किया जा सकता।

और यदि बाह्य वस्तु है तो उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, उसका अनुमान करना होगा। इसके दो कारण हैं—

(१) पदार्थों का निर्माण उन अंशों से होता है जो परिवर्तमान हैं। यदि घटक तत्त्व परिवर्तमान है और प्रत्यक्ष 'दत्त' है तो वस्तु का पूर्ण प्रत्यक्ष न होकर केवल उसके प्रकार मात्र का या अवस्था विशेष का ही प्रत्यक्ष हो पाएगा। परन्तु हम वस्तु, उदाहरण के लिए पुस्तक, को सत्य मानते हैं। सत्यता का आधार अनुमान है। जबतक आप प्रत्यक्ष करेंगे समय के कारण वस्तु बदल चुकेगी अतः वस्तु यद्यपि है। तब भी उसके अस्ति की सूचना अनुमान से ही मिलती है।

इस प्रश्न का मनोवैज्ञानिक पहलू भी है। जब हम एक पदार्थ को देखते हैं तो क्या यह पूर्णतः 'दत्त' है? निश्चय ही इसकी प्रतिमा (इमेज) भी वहाँ होती है। अतएव जब एक पुस्तक का ज्ञान होता है तो पूर्णतः प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं अपितु अनुमान के द्वारा भी, क्योंकि इसके स्मरणात्मक और प्रतिबिम्बवादी (रिप्रेजेंटेटिव) पहलू केवल अनुमित ही किए जा सकते हैं। प्रत्यक्ष केवल 'दत्त' हो सकता है, अतः कोई भी प्रत्यक्ष पूर्ण प्रत्यक्ष नहीं है। क्योंकि

यस्तु अमेदः स तत्रानुभवमात्रेण ज्ञानस्य सदृशात्मना ।

भाव्यतेनात्मना येन प्रतिकर्म प्रविभज्यते । इति युक्तिवलेन व्यवस्थाप्यमानोऽनानुभविक इति ।” ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विवृति-विमर्शिनी, भाग २, पृ. ८३ ।

१२. बाह्य के अंतर्गत केवल ज्ञानबाह्य नहीं अपितु ज्ञात बाह्य होने पर भी जो अर्थ क्रियाकारी है वह बाह्य है ।

१३. तुलना कीजिए—“न हि वित्तिसत्तैव तद्देदना युक्ता तस्य सर्वत्राविशेषात् । तां तु सारूप्य-माविशत् सारूपयितुं घटयेत्” सर्वदर्शनसंग्रह, बौद्ध दर्शन नामक अध्याय ।

१४. ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, भाग २, पृ. ८३ ।

१५. ज्ञानेन्द्रिय का अनुमान ।

१६. पारिभाषिक शब्दावली में कहेंगे ‘पक्षधर्मता के बल पर’, देखिए ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविवृति विमर्शिनी, भाग २, पृ. ६० । पक्षधर्मता है—हेतु का पक्ष में रहना । पक्ष कहते हैं जहाँ पर साध्य की सिद्धि की जाती है । जैसे ‘पर्वत पर धूआँ है, क्योंकि वहाँ आग है’ में पर्वत पक्ष है और वहाँ पर आग का होना पक्षधर्मता है । देखिए भूलकीकर और अभ्यंकर द्वारा संपादित न्यायकोश, पृ. ४५३, ४५५ ।

१७. वस्तु के रूप अर्थात् रंग ज्ञान में आंख, शब्द के सुनने में कान आदि कारण हैं ।

१८. ‘अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम् । तद्वशादर्थप्रतीतिसिद्धेरिति ।’ धर्मकीर्ति का न्यायविन्दु, प्रथमपरिच्छेद । पदार्थ के साथ ज्ञान का सारूप्य प्रमा का साधन या प्रमाण है । जिस विषय से ज्ञान उत्पन्न होता है उस विषय के सदृश ही वह ज्ञान होता है । सारूप्य को इसलिए प्रमाण माना जाता है क्योंकि उसी की सामर्थ्य से वस्तुबोध संभव हो पाता है । अर्थ प्रतीतिरूप प्रत्यक्षविज्ञान सारूप्य के कारण प्रतीत होता है । देखिए धर्मोत्तर की टीका ।

१९. “अर्थस्यासंभवेऽभावात् प्रत्यक्षेऽपि प्रमाणता ।

प्रतिबद्धस्वभावस्य तद्धेतुत्वे सममियम् ॥” अभिनव द्वारा उद्धृत ।

२०. भास्करा, भाग १, पृ. २२२ ।

२१. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी, भाग १, पृ. १७८ ।

२२. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विवृति विमर्शिनी, भाग २, पृ. १३० ।

२३. ‘प्रज्ञालंकार’ के कर्ता शंकरनन्दन से प्रभाव लेकर अभिनव ने अनेक गौण आपत्तियाँ भी उठाई हैं; देखिए ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी, भाग १, १८१ । परन्तु उनके द्वारा मीमांसक, वैज्ञानिक आदि बाह्यवादियों का भी खंडन हुआ है । वे तर्क बाह्य पदार्थ की अनुमेयता से अधिक संबद्ध न होकर उसकी सिद्धि से संबंधित है । विषयान्तर के भय से उन की ओर संकेत नहीं किया गया है ।

२४. “अर्थक्रियापि च आभासमानतयैव अभिलषणीया, इति सा अपि आभासविश्रान्ता इति ततोऽपि न बाह्यसिद्धिः यथा च भट्टः ‘आभासवादे त्वर्थः कः’ इत्युपक्रम्य ‘तत्फलायेति चेज्ज्ञानं तत्फलायेति का गतिः’ इति आभासपरम्परामेव व्यवहारोपकरणभूतामवादीत् ।” ईश्वर प्रत्यभिज्ञा-विवृति-विमर्शिनी, भाग २, पृ. १६२ ।

२५. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी, भाग १, पृ. १८७ ।

२६. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी, भाग २, पृ. १५७ ।

२७. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी, भाग १, पृ. १८७ ।

२८. वही, पृ. १६१ ।

२९. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा-विकृति-विमर्शिनी, भाग २, पृ. १५५ ।

३०. सौत्रांतिक और अभिनव दोनों ही इन्द्रिय को अनुमान का विषय मानते हैं। पर सौत्रांतिक इस अनुमान को जिस व्याप्ति से ग्रहीत मानते हैं वह प्रत्यक्षग्रहीत नहीं है; अभिनव के लिए वहां व्याप्ति प्रत्यक्षग्रहीत है।

३१. भास्करि, भाग १, पृ. २३३ ।

३२. धर्मकीर्ति के अनुसार प्रत्यक्ष के द्वारा केवल स्वलक्षण वस्तु को, अर्थात् वस्तु के असाधारण स्वभाव को, जाना जा सकता है। यही वास्तविक रूप में सत् है। इसीलिए बौद्धों के यहाँ निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही स्वीकार किया गया है, पर उससे व्यवहार संभव नहीं है। अतः दूसरा विषय, जिसे पारिभाषिक शब्दावली में सामान्य लक्षण कहा गया है, विकल्पज्ञान का विषय है। सामान्य लक्षण का अर्थ है दूसरी वस्तुओं से समान स्वभाव वाला। यह अनुमान से जाना जाता है। तुलना कीजिए —

तस्य विषयः स्वलक्षणम् ।

तदेव परमार्थं सत् ।

अन्यत् सामान्यलक्षणम् । न्याय-बिन्दु, प्रथम परिच्छेद और उसपर धर्मोत्तर की टीका ।

३३. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी, भाग १, पृ. १६०-१६१ ।

३४. उत्पलकृत प्रत्यभिज्ञा कारिका १. ३. ५ ।

३५. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी भाग १, पृ. १६१ ।

३६. अभिनव का यह तर्क जोरदार नहीं है। सौत्रांतिक के लिए गज का आकार दर्पण के आकार का नहीं, दर्पण में पड़ने वाले गज प्रतिबिम्ब के आकार का नियामक है।

३७. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा-विकृति-विमर्शिनी, भाग २, पृ. १५८ ।

३८. 'भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद्ग्राह्यतां विदुः ।

हेतुत्वमेव युक्तिज्ञा ज्ञानार्पण क्षमम् ॥' अभिनवगुप्त द्वारा उद्धृत; वही पृ. १५६ ।

३९. वही ।

४०. वही, पृ. १६२ ।

४१. वही, पृ. १५२ ।

संदर्भ-ग्रन्थ

१. धर्मकीर्ति : न्यायबिन्दु, धर्मोत्तर कृत 'टीका' सहित, वाराणसी संस्करण ।
२. दुर्नेक मिश्र: धर्मोत्तरप्रदीप (धर्मोत्तरीय न्यायबिन्दु टीका पर वृत्ति), पटना संस्करण ।
३. उत्पल : ईश्वरप्रत्यभिज्ञा कारिका; स्वकृत 'वृत्ति' सहित, काश्मीर संस्करण ।

४. अभिनव गुप्तः ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी (प्रत्यभिज्ञा कारिकाओं पर टीका); दो भाग, काश्मीर संस्करण ।
५. „ „ : ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विवृति-विमर्शिनी (प्रत्यभिज्ञा कारिकाओं पर उत्पलकृत 'विवृति' पर विस्तृत टीका । यह 'विवृति' आज अप्राप्य है) तीन भाग, काश्मीर संस्करण ।
६. भास्कर : भास्करी (अभिनवकृत विमर्शिनी की व्याख्या); तीन भाग; डॉ० के. सी. पांडेय द्वारा संपादित; सरस्वती-भवन प्रकाशन ।
७. माधव : सर्वदर्शन संग्रह, अभ्यङ्कर द्वारा संपादित, पूना संस्करण ।
८. डा. यदुनाथ सिन्हा: इंडियन रियलिज्म, लंदन से प्रकाशित ।
९. आर. जे. हर्स्ट : दी प्राब्लम्स ऑफ परसेप्शन, 'दी म्योरहेड लाइब्रेरी आफ फिलासफी' के अंतर्गत लंदन से प्रकाशित ।

लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ ।

भारतीय दृष्टिभ्रम सिद्धान्तों का आलोचनात्मक अध्ययन

एल. पी. एन. सिन्हा

इस निबन्ध में विभिन्न भारतीय दृष्टिभ्रम सिद्धान्तों, जैसे आत्मख्याति, अनिर्वचनीयख्याति, अन्यथाख्याति, अख्याति आदि की परीक्षा की गई है। सभी सिद्धान्तों की परीक्षा से यह मालूम पड़ता है कि अख्याति दृष्टिभ्रम समस्या की उचित व्याख्या प्रस्तुत करती है, क्योंकि इस सिद्धान्त के अनुसार जब कभी निरीक्षक भ्रम में पड़ जाता है तो वह अपने भ्रम को सिर्फ दूर ही नहीं कर सकता है बल्कि सत्य की प्राप्ति भी कर सकता है। इस कथन की पुष्टि नीचे कहे गए दृष्टिभ्रम सिद्धान्तों के आलोचनात्मक अध्ययन के द्वारा हो सकती है।

(१)

विभिन्न बौद्ध दार्शनिकों ने विभिन्न भ्रम सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। योगाचारी बौद्ध दार्शनिकों का कहना है कि हम सीप को चाँदी के रूप में देखते हैं क्योंकि चाँदी का प्रत्यय जो दिमाग में है वही प्रत्यय बाहरी जगत् में चाँदी मालूम पड़ता है। यह सिद्धान्त आत्मख्याति के नाम से प्रचलित है। इसे ज्ञानाकार ख्याति भी कहा जा सकता है। इस सिद्धान्त के मुताबिक चाँदी का ज्ञान दिमाग में है और वही बाहरी पदार्थ को ओर इंगित करता है। उदाहरणार्थ: चाँदी का ज्ञान बाहरी पदार्थ सीप की ओर इशारा करता है। अतः आत्मख्याति और ज्ञानाकार ख्याति दोनों एक ही हैं, क्योंकि इन दोनों सिद्धान्तों में चाँदी का अस्तित्व नहीं है। लेकिन जहाँ आत्मख्याति में चाँदी का प्रत्यय चाँदी मालूम पड़ता है वहाँ ज्ञानाकारख्याति में चाँदी का ज्ञान सिर्फ सीप की ओर इंगित करता है।

माध्यमिक बौद्ध दार्शनिकों ने अपने भ्रम सिद्धान्त का नाम असत्ख्याति दिया है। असत्ख्याति के अनुसार, जो अस्तित्वविहीन है उसे हम अस्तित्वयुक्त पाते हैं (प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृष्ठ १३ और आगे के पन्नों में; न्यायमंजरी, पृ. १७७-८)। उदाहरणार्थ: चाँदी का अस्तित्व नहीं है फिर भी ऐसा मालूम पड़ता है जैसे उसका अस्तित्व हो।

ऊपर की बातों से यह साफ मालूम पड़ता है कि एक दृष्टिकोण से असत्ख्याति के अनुसार चाँदी का प्रत्यय बाहरी चाँदी की ओर इशारा करता है, लेकिन दूसरे दृष्टिकोण से असत्ख्याति और आत्मख्याति एक ही हैं; क्योंकि दोनों सिद्धान्तों के मुताबिक अस्तित्वविहीन

चाँदी के ऐसा दिखलाई पड़ता है ।

खैर, आत्मख्याति गलत है । आत्मख्याति के अनुसार प्रत्ययों का ढेर बाहरी वस्तुओं के रूप में दिखलाई पड़ता है । उदाहरणार्थ: चाँदी का प्रत्यय (जो मेरे दिमाग में है) बाहरी चाँदी सा दिखलाई पड़ता है । पर यदि यह सही है तो इस भ्रमक अनुभव का रूप ही दूसरा हो जाता है और मैं यह कहने को बाध्य हो जाऊँगा कि “मैं चाँदी हूँ” नकि “यह चाँदी है” । परन्तु क्या ऐसा कहना ठीक होगा ? फिर इस सिद्धान्त के अनुसार इस सत्य और भ्रम में भेद नहीं कर सकते हैं । फिर यह सिद्धान्त गलत है क्योंकि यह एक गलत कल्पना के आधार पर आधारित है—भीतरी या अवचेतनगत प्रत्ययों का ढेर बाहरी चीजों के ऐसा दिखलाई पड़ता है । अतः आत्मख्याति सही सिद्धान्त नहीं है ।

(२)

शंकर का सिद्धान्त अनिर्वचनीयख्याति के नाम से अभिहित है (वेदान्त परिभाषा—अनुवादक स्वामी माधवानन्द, द्वितीय संस्करण, १९५३, पृष्ठ ५६ और इसके आगे के पृष्ठ) । सीप-चाँदी-भ्रम के उदाहरण को लेते हुए वे कहते हैं कि जब सीप चाँदी के रूप में दिखलाई पड़ती है तो चाँदी कहाँ से आती है ? शंकर कहते हैं कि चाँदी अविद्या द्वारा पैदा होती है । यह ठीक है कि निरीक्षक के नेत्र और सीप में सन्निकर्ष होता है पर सीप और चाँदी में समानता के कारण सीप चाँदी के रूप में दिखलाई पड़ती है । अतः भ्रम के समय में चाँदी चेतना में रहती है । लेकिन यह चाँदी न सत्य है और न असत्य है और न यह सत्य-असत्य दोनों है । अगर चाँदी सत्य रहती तो इसका ज्ञान भी यथार्थ होता । पर ऐसी बात नहीं है: चाँदी का ज्ञान उसी समय खत्म हो जाता है जब निरीक्षक जान जाता है कि सामने की वस्तु सीप है, चाँदी नहीं है । चाँदी का ज्ञान असत्य भी नहीं है क्योंकि निरीक्षक उसे असली चाँदी समझकर उठाने के लिए आगे बढ़ता है । चाँदी का ज्ञान सत्य और असत्य दोनों एक साथ भी नहीं हो सकता है क्योंकि दो व्याघात्मक गुण एक ही चीज़ में नहीं रह सकता है । अतः चाँदी का ज्ञान वर्णन के परे है ।

ऊपर की बातों से यह स्पष्ट है कि शंकर की अनिर्वचनीय ख्याति गलत सिद्धान्त है । इन्होंने भ्रम को अनिर्वचनीय या वर्णन के परे कहकर व्याख्या की है । लेकिन भ्रम की इस तरह से व्याख्या करने का अर्थ है इसकी व्याख्या ही नहीं करना । दूसरा दोष शंकर के सिद्धान्त में यह है कि वे समझते हैं कि भ्रम उत्पन्न करने वाली चाँदी की उत्पत्ति यथार्थ चाँदी की अनुपस्थिति में भी होती है । लेकिन यह असम्भव है, क्योंकि यदि यह सम्भव रहता तो वैसी हालत में हम चाँदी के बदले किसी अन्य चीज़ को भी देख सकते हैं जिसका प्रत्यय हमारे दिमाग में है । और इसका अर्थ यह होता है कि प्रतिमा (image) और प्रत्यक्ष (percept) में कोई भेद नहीं है । दूसरी ओर यदि असत्य चाँदी भ्रमात्मक नहीं है बल्कि सत्य है तो भ्रम प्रत्यक्ष हो जाता है ।

रामानुज ने शंकर की अनिर्वचनीय ख्याति की आलोचना की है (श्रुतप्रकाशिका, पृष्ठ १७८-१८०) । रामानुज का कहना है कि यदि कोई काल्पनिक वस्तु भ्रमपूर्ण प्रत्यक्ष का

विषय रहती तो भ्रम अनिर्वचनीय होता पर चूँकि कोई काल्पनिक वस्तु भ्रमात्मक प्रत्यक्ष का विषय नहीं है इसलिए भ्रम अनिर्वचनीय नहीं है। और यदि भ्रमपूर्ण चाँदी वर्णन के परे है तब क्या यह कहना व्यर्थ नहीं है कि भ्रमपूर्ण प्रत्यक्ष सत्य हो जाता है जब हमें सीप का ज्ञान होता है? फिर यदि भ्रमपूर्ण चाँदी वर्णन के परे है तो इसके उत्पन्न होने का क्या कारण है। प्रत्यक्ष अनिर्वचनीय चाँदी का कारण नहीं हो सकता है क्योंकि चाँदी का प्रत्यक्ष अनिर्वचनीय चाँदी के बाद होता है, और इसलिए यह अनिर्वचनीय चाँदी के पहले आकर उसका कारण नहीं बन सकेगा। फिर इन्द्रियगत दोष अनिर्वचनीय चाँदी का कारण नहीं हो सकता है क्योंकि यह दोष वैयक्तिक है और यह दोष बाहरी चीज़ों को नहीं बदल सकता है। फिर, यदि भ्रमपूर्ण चाँदी अनिर्वचनीय है तो यह क्यों चाँदी ही दिखलाई पड़ती है? अगर हम कहें कि सीप चाँदी दिखलाई पड़ती है क्योंकि दोनों में समानता है, तब प्रश्न यह होता है—क्या समानता यथार्थ है या अयथार्थ है? समानता यथार्थ नहीं हो सकती है क्योंकि विषय भ्रम उत्पन्न करने वाला है। समानता अयथार्थ भी नहीं हो सकती, क्योंकि भ्रम उत्पन्न करने वाली चाँदी का इशारा किसी यथार्थ चाँदी (जो किसी दुकान या घर में है) की ओर है। अतः अनिर्वचनीयख्याति चाहे जिस अर्थ में लिया जाय, गलत सिद्धान्त है।

जयतीर्थ ने भी शंकर की अनिर्वचनीयख्याति की आलोचना की है (न्यायसुधा, पृष्ठ संख्या ५५)। शंकर के विरोध में जयतीर्थ कहते हैं कि यदि भ्रम उत्पन्न करने वाली चाँदी वर्णन के परे है तो क्यों भ्रमपूर्ण चाँदी का अस्तित्व प्रत्यक्ष के समय ही होता है और क्यों नहीं इसका अस्तित्व बाद में होता है और क्यों यह अनिर्वचनीय कभी भी दिखलाई नहीं पड़ता है? अतः अनिर्वचनीय ख्याति एक सही सिद्धान्त नहीं है।

(३)

न्याय का भ्रम सिद्धान्त अन्यथाख्याति नाम से प्रचलित है। अन्यथाख्याति का अर्थ है एक वस्तु को दूसरी वस्तु में देखना : जैसे सीप को चाँदी में देखना। इस अनुभव में सीप और चाँदी दोनों का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। जब सीप इन्द्रिय के सामने प्रस्तुत किया जाता है तो इसका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, पर इसके गुणों का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता। अतः सीप सीप के जैसी प्रत्यक्ष नहीं होती है और न इसका प्रत्यक्ष अनुभव चाँदी के ज्ञान से भिन्न ही होता है, बल्कि सीप का प्रत्यक्ष ज्ञान सिर्फ एक वस्तु के ऐसा होता है। इसके अतिरिक्त चाँदी का प्रत्यक्ष ज्ञान भी कहीं और हुआ है। लेकिन सीप को चाँदी में देखने का कारण यह है कि जब हम सीप को देखते हैं तो उसके रंग, चमक इत्यादि से सीप को चाँदी समझ लेते हैं, जिसे हमने कहीं दूसरी जगह देखा है। चाँदी अस्तित्वविहीन नहीं है बल्कि इसका अस्तित्व कहीं और ही है। अतः इस सिद्धान्त के मुताबिक चाँदी, जिसे हमने कहीं और देखा है, उसे सीप के साथ जोड़ देते हैं और कहते हैं कि यह (सीप) चाँदी है।

कुमारिलः (मीमांसाधारा के प्रमुख दार्शनिक) न्याय की अन्यथाख्याति को मानते हैं

१. कुमारिल, प्रभाकर (मीमांसाधारा के प्रमुख दार्शनिक) की अख्याति को नहीं मानते हैं।

(एम. हीरीयना का भारतीय दर्शन, १६३२, पृष्ठ संख्या ३१३ और इसके आगे के पृष्ठ) । परन्तु कुमारिल अपने सिद्धान्त का नाम विपरीतख्याति रखते हैं जो अन्यथाख्याति के ही समान यह मानता है कि भ्रम में एक वस्तु दूसरी वस्तु दिखलाई पड़ती है, जैसे सीप चाँदी के रूप में दिखलाई पड़ती है ।

रामानुज भी न्याय की अन्यथाख्याति मान लेते हैं (श्रीभाष्य) । लेकिन रामानुज अपने पूर्वजों (जैसे बोधमान, नाथमुनि, वारद् विष्णु मिश्र इत्यादि) की यथार्थख्याति के द्वारा ही न्याय की अन्यथाख्याति पर पहुँचते हैं ।

रामानुज यह कहते हैं कि संसार की प्रत्येक वस्तु तीन तत्वों से बनी है : अग्नि, पानी और पृथ्वी । जब इन तीनों में से कोई एक तत्व किसी वस्तु में प्रचुर मात्रा में पाया जाता है तो उस वस्तु में उस तत्व का गुण ज्यादा पाया जाता है और उस वस्तु का उसी तत्व के गुण से बोध होता है, यद्यपि उस वस्तु में बाकी और दो तत्वों का भी गुण पाया जाता है । अतः एक अर्थ में तीनों तत्वों के गुण सभी चीज़ में हैं । चूँकि सीप में चाँदी का भी गुण है इसलिए सीप चाँदी से मिलती है । अतः वे यह समझते हैं कि सीप चाँदी जैसी इसलिए दिखलाई पड़ती है क्योंकि चाँदी का गुण सीप में देखा जाता है । अतः सीप में चाँदी का ज्ञान यथार्थ है, और चाँदी का वह तत्व जो सीप में है उसकी ओर इशारा करता है । रामानुज का यह सिद्धान्त यथार्थख्याति कहलाता है और इस सिद्धान्त के मुताबिक चाँदी के ज्ञान का इशारा यथार्थ वस्तु की ओर है । अतः सीप में चाँदी देखने का कारण यह है कि हम चाँदी के तत्वों को सीप में देखते हैं और सीप को सीप नहीं देखने का कारण यह है कि सीप में और चीजों के तत्व हैं, जिन्हें हम नहीं देखते हैं । इसका मतलब यह होता है कि सीप में चाँदी का प्रत्यक्ष बाहरी यथार्थ वस्तु की ओर इशारा करता है । पर यद्यपि रामानुज भ्रम के बारे में यह समझते हैं कि भ्रम किसी बाहरी वस्तु की ओर इशारा करता है, फिर भी वे यह मानते हैं कि भ्रम में एक वस्तु दूसरी वस्तु जैसी दिखलाई पड़ती है; दूसरे शब्दों में वे न्याय की अन्यथाख्याति को कबूल करते हैं ।

लेकिन जहाँ कुमारिल और रामानुज न्याय की अन्यथाख्याति को मानते हैं वहाँ शंकर और उनके अनुयायी न्याय की अन्यथाख्याति को नहीं मानते हैं । शंकर और उनके अनुयायियों का कहना है कि न्याय की अन्यथाख्याति के मुताबिक वह सीप, जो सामने है, उसके बदले में हम चाँदी, जो दूसरी जगह है और दूसरे समय में है, उसे देखते हैं । लेकिन वह चाँदी, जिसका अस्तित्व किसी दूसरी जगह है और दूसरे समय में है, प्रत्यक्ष का विषय कैसे हो सकती है जबकि वह इन्द्रिय के सामने नहीं लायी गयी है ? हम यह भी नहीं कह सकते हैं कि चाँदी चेतना में स्मरण की गयी है, क्योंकि यदि यह सही है तो हम यह भी कह सकते हैं कि जब हम धुआँ को देखकर आग का अनुमान करते हैं तो हम चेतना में ही सिर्फ आग का स्मरण करते हैं और अनुमान की कोई जरूरत ही नहीं रह जाती है । फिर न्याय की अन्यथाख्याति का अर्थ है कि एक वस्तु दूसरी वस्तु जैसी दिखलाई पड़ती है, जैसे सीप चाँदी के रूप में दिखलाई देती है । पर जब ये दोनों दो वस्तुएँ हैं तो क्यों एक वस्तु दूसरी दिखलाई पड़ती है ? इसका

क्या अर्थ है ? आखिर क्यों ऐसा होता है ? और अगर ऐसा होता है तो चाँदी का ज्ञान सिर्फ उसी समय तक क्यों रहता है जबतक भ्रम रहता है ? अगर सीप चाँदी में बदल जाती है तो चाँदी का ज्ञान यथार्थ है, भ्रमपूर्ण नहीं । इन सभी प्रश्नों का जवाब हम अन्यथा-ख्याति में नहीं पाते हैं (विवरण प्रमेय संग्रह, पृष्ठ ३३) । अतः न्याय की अन्यथाख्याति एक सही सिद्धान्त नहीं है ।

(४)

मीमांसा-धारा के दार्शनिक प्रभाकर अपने दृष्टिभ्रम सिद्धान्त का नाम अख्याति रखते हैं । अख्याति के मुताबिक हम सीप को चाँदी के रूप में इसलिए देखते हैं कि दृष्ट सीप और स्मृत चाँदी, जा दो भिन्न वस्तुएँ हैं, उन्हें हम अलग नहीं करते हैं, प्रत्युत इन दोनों को हम एक में मिला देते हैं और कहते हैं कि “यह चाँदी है” । अतः इन दोनों के बीच में अलगाव नहीं करने से भ्रम उत्पन्न होता है । भ्रम में पड़ने के बाद द्रष्टा सीप को चाँदी समझकर उठा भी लेता है, और यह मालूम हो जाने पर कि भ्रमीय चाँदी असली चाँदी नहीं है बल्कि वह सीप है, उसे फेंक देता है (प्रभाकर मीमांसा, लेखक, गंगानाथ झा, पृष्ठ संख्या २६ और इसके आगे के पन्नों में) ।

शालिकनाथ प्रभाकर की अख्याति का समर्थन करते हैं और साथ ही साथ वे यह भी समझते हैं कि जब द्रष्टा सीप को चाँदी के रूप में देखता है तो वह उस असत्य चाँदी को सच्ची चाँदी मानकर उठा लेता है, जैसे वह सच्ची ही हो (दासगुप्त का भारतीय दर्शन, जिल्द ३, पृष्ठ संख्या १८५-१८६) ।

सुदर्शन सूरि (रामानुज के पूर्व दार्शनिकों के यथार्थख्याति सिद्धान्त पर आलोचना करते हुए) भी प्रभाकर की अख्याति को मानते हैं (श्रुतप्रकाशिका) ।

वादीहाम शंभुवहाचार्य (रामानुज के भ्रम सिद्धान्त के समर्थक) ने पहले प्रभाकर की अख्याति की आलोचना की पर बाद में उन्होंने उनकी अख्याति को मान लिया ।

शंकर और उनके अनुयायियों ने प्रभाकर की अख्याति की आलोचना की (विवरण-प्रमेयसंग्रह और न्यायमार्कण्ड) । उन लोगों का कहना है कि प्रत्यक्ष सीप और स्मृत चाँदी में अलगाव करने की बात समझ में नहीं आती है । अगर हम मान भी लें कि इन दोनों में भेद नहीं किया गया है तो प्रश्न यह होता है कि यह नकारात्मक क्रिया कैसे असत्य चाँदी को चाँदी समझकर उठाने के लिए द्रष्टा को प्रेरित करती है ? अगर हम कहें कि द्रष्टा सीप और चाँदी में समानता देखता है और यही कारण है कि वह भ्रमात्मक चाँदी को देखकर उठता है कि हम गाय और नीलगाय में भी समानता पाते हैं, फिर भी हम नीलगाय को देखकर क्यों नहीं उसे गाय समझते हैं और हम क्यों नहीं उसे गाय के ही रूप में ग्रहण करते हैं ?

न्यायधारा के दार्शनिकों ने भी प्रभाकर की अख्याति की आलोचना की है । पंडित (एन. एस., जिल्द १२, पृ. १०६) में यह बतलाया गया है कि क्या दृष्ट सीप और

स्मरणीय चाँदी चेतना में दिखलाई पड़ती हैं या नहीं ? अगर ये दोनों वस्तुएँ चेतना में दिखलाई नहीं पड़ती हैं तो वे दोनों अस्तित्वहीन हैं । और यदि ये दोनों चेतना में दिखलाई पड़ती हैं तो इन दोनों के बीच में भेद नहीं देखने का प्रश्न ही नहीं होता है । अख्याति इन सभी बातों की व्याख्या नहीं करती है । तत्त्वचिन्तामणि में गंगेश में अख्याति की आलोचना करते हुए कहा है कि यदि द्रष्टा दृष्ट सीप और स्मृत चाँदी में भेद नहीं देखता है तो क्यों यह नकारात्मक क्रिया उसे आगे बढ़कर उस भ्रमपूर्ण चाँदी को असली चाँदी समझकर उठाने के लिए प्रेरित करती है ?

जयतीर्थ (माधवधारा के दार्शनिक) ने भी प्रभाकर की अख्याति की आलोचना निम्न-लिखित आधार पर की है (न्याय-सुधा, पृष्ठ ४८)।

(१) असत्य चाँदी में स्मरणीय चाँदी का कोई गुण नहीं है ।

(२) अख्याति में यह कहा गया है कि द्रष्टा असत्य चाँदी को असली चाँदी समझकर उठाना चाहता है । पर द्रष्टा दृष्ट सीप और स्मरणीय चाँदी में भेद नहीं देखता है । लेकिन यह क्यों ? यदि उसे यह मालूम है कि दृष्ट वस्तु क्या है और स्मरणीय वस्तु क्या है, तो वह क्यों नहीं इन दोनों के भेद को देखता है ? फिर यदि वह इन दोनों के भेद को नहीं देखता है तो यह नकारात्मक क्रिया क्यों उसे नकली चाँदी को असली चाँदी समझकर उठाने के लिए प्रेरित करती है ?

अतः प्रभाकर के आलोचकों के अनुसार अख्याति भी सही सिद्धान्त नहीं है ।

(५)

ऊपर की बातों से यह मालूम होता है कि आत्मख्याति, अनिर्वचनीयख्याति, अन्यथा-ख्याति और अख्याति दोषपूर्ण हैं । पुनश्च, ऊपर की बातों से मालूम होता है कि जहाँ आत्म-ख्याति, अनिर्वचनीयख्याति तथा अन्यथा ख्याति के अन्तर्गत भ्रम उत्पन्न होने का जा कारण है वह आसानी से साधारण व्यक्ति नहीं समझ सकता है, वहाँ अख्याति के अन्तर्गत भ्रम उत्पन्न होने का जो कारण है वह आसानी से साधारण व्यक्ति की समझ में आ सकता है । चूँकि प्रत्यक्ष या भ्रम वह प्रश्न है जिसे कोई भी साधारण व्यक्ति समझ सके और हल कर सके, इसलिए प्रभाकर की अख्याति, इस दृष्टिकोण से, दृष्टि-भ्रम की उचित व्याख्या के लिए अपनायी जा सकती है । फिर जहाँ आत्मख्याति, अनिर्वचनीयख्याति तथा अन्यथाख्याति में इस बात की कोई भी उचित व्याख्या नहीं है कि यदि कोई साधारण निरीक्षक कभी भ्रम में पड़ जाता है तो वह कैसे भ्रम से छुटकारा पा सकता है, वहाँ अख्याति में इस बात की स्पष्ट व्याख्या है कि यदि कोई साधारण निरीक्षक कभी भ्रम में पड़ जाता है तो वह उससे आसानी से छुटकारा पा सकता है । अतः इस दृष्टिकोण से भी अख्याति सिद्धान्त दृष्टि-भ्रम की उचित व्याख्या के लिए अपनाया जा सकता है ।

परन्तु सवाल यह है कि प्रभाकर के आलोचकों (जैसे शंकर, गंगेश, जयतीर्थ इत्यादि) की आपत्तियों का क्या जवाब हो सकता है ? जैसाकि ऊपर उल्लेख किया गया है, प्रभाकर की अख्याति में हम दो मुख्य बातें पाते हैं :

(१) एक वस्तु दूसरी वस्तु के रूप में दिखलाई पड़ती है : जैसे सीप का चाँदी दिखलाई पड़ना, क्योंकि 'दृष्ट सीप' और 'स्मृत चाँदी', जो दो हैं, उन्हें द्रष्टा अलग नहीं कर सकता है। दूसरे शब्दों में, दृष्टि-भ्रम होने का कारण यह है कि द्रष्टा 'दृष्ट विषय' और 'स्मृत विषय', जो दो हैं, उन्हें अलग नहीं करके एक में मिला देता है।

(२) दृष्टि-भ्रम उत्पन्न होने के बाद द्रष्टा उक्त नकली चाँदी को असली चाँदी समझकर उसे उठा लेता है और वह उक्त चाँदी को नकली चाँदी समझने के बाद फेंक देता है।

प्रभाकर के आलोचकों का कहना है कि यदि यह मान भी लिया जाय कि 'दृष्ट सीप' और 'स्मृत चाँदी', जो दो हैं, उन्हें द्रष्टा अलग नहीं कर पाता है और इसी से उसके मन में भ्रम उत्पन्न होता है, तो (उन आलोचकों के अनुसार) यह एक नकारात्मक क्रिया है, और एक नकारात्मक क्रिया कैसे किसी निरीक्षक को नकली चाँदी को असली चाँदी उठाने के लिए प्रेरित कर सकती है ? परन्तु मैं नहीं समझता हूँ कि प्रभाकर का यह अभिप्राय था कि कोई नकारात्मक क्रिया निरीक्षक को नकली चाँदी को असली चाँदी समझकर उठाने के लिए प्रेरित करती है ? खैर, प्रभाकर एक भाषा-विशेषज्ञ नहीं थे; यदि उनकी अभिव्यक्ति में कोई त्रुटि है भी तो उनके विचारों में कोई अस्पष्टता नहीं है। प्रभाकर ने साफ कहा है कि जब कभी झुट्टा है भी तो उनके विचारों में कोई अस्पष्टता नहीं है। प्रभाकर ने साफ कहा है कि जब कभी इस 'दृष्ट सीप' और 'स्मृत चाँदी', जो दो भिन्न वस्तुएँ हैं, उन्हें एक में मिला देते हैं तो हम भ्रम में पड़ जाते हैं। तो हम उससे कैसे छुटकारा पा सकते हैं ? प्रभाकर का यह कहना है कि भ्रम से छुटकारा पाने के लिए हम उस भ्रमात्पादक वस्तु को उठाते हैं और उठाने के बाद हमें सत्य का ज्ञान होता है, क्योंकि हम जान जाते हैं कि उक्त वस्तु चाँदी नहीं है बल्कि सीप है। अतः गौर करके देखने से प्रभाकर की अख्याति के द्वारा हमें दृष्टि-भ्रम की उचित व्याख्या मिलती है, क्योंकि अख्याति के मुताबिक हम सिर्फ भ्रम से छुटकारा ही नहीं पाते हैं बल्कि हम सत्य की प्राप्ति भी करते हैं।

पटना विश्वविद्यालय, पटना।

प्रत्यक्ष की वेदान्तीय परिभाषा

नारायण शास्त्री द्राविड़

भारतीय दर्शनकारों ने प्रत्यक्ष ज्ञान तथा प्रत्यक्ष प्रमाण के संबंध में विभिन्न विचार प्रणालियां उपस्थित की हैं। इनमें वेदान्त की विचार-प्रणाली विशेष महत्व रखती है। इसका प्रतिपादन अद्वैत के प्रतिष्ठापक श्री शंकराचार्य ने अपने ग्रंथों में नहीं किया है किन्तु उनके परवर्ती धर्मराजाश्वरीन्द्र जैसे विद्वानों ने प्रमाणों की चर्चा करते हुए अपने वेदान्त परिभाषा आदि ग्रंथों में प्रत्यक्ष की परिभाषा बतलाते हुए उपर्युक्त विचार प्रणाली का विस्तार किया है। इस पर से कुछ विद्वानों की यह धारणा हो गयी है कि परवर्ती वेदान्तियों ने शंकराचार्य तथा अन्य प्राचीन ग्रंथकारों को अमान्य ऐसी विचार-प्रणाली का ही पुरस्कार किया है। यह धारणा कितनी निराधार है यह वे ही लोग अच्छी तरह जान सकेंगे जिन्होंने भारतीय दर्शनों का पारम्परिक पद्धति से मूल संस्कृत ग्रंथों पर से अध्ययन किया है, अनुवादों पर से नहीं। ऐसे लोगों को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं होगी कि, प्राचीन को सम्मत किन्तु उनके द्वारा ग्रंथनिबद्ध न किये हुए विचार क्या हैं, यह जानने के लिये प्राचीन टीकाकारों का सहारा लेना ही सर्वाधिक उपयुक्त हो सकता है। प्राचीन आचार्यों के अभिप्राय को इन टीकाकारों की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह समझने का दावा करने वाले अर्वाचीन समीक्षकों के कथन अन्य क्षेत्रों में बहुधा गलत ही साबित होते आये हैं। परवर्ती वेदान्तियों का प्रत्यक्षादि प्रमाण संबंधी स्पष्टीकरण शंकराचार्य, भारती तीर्थ, वाचस्पति आदि विद्वानों को अमान्य कैसे नहीं है यह इनकी उक्तियों के सहारे सिद्ध करना कठिन नहीं है। किन्तु प्रस्तुत लेख इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये लिखा न जाकर, उक्त स्पष्टीकरण कैसे तर्क की कसौटी पर खरा उतरता है, यह दिखलाने के उद्देश्य से ही प्रधानतया लिखा गया है। इस कारण शंकर आदि आचार्यों के ग्रंथों का एक-दूसरे के साथ मिलान करने के फेर में यहां हम नहीं पड़ना चाहेंगे।

अनेक आधुनिक समीक्षकों की प्रत्यक्ष संबंधी वेदान्तीय स्पष्टीकरण के सम्बन्ध में यह शिकायत है कि वह बिल्कुल अवैज्ञानिक है। शरीरविज्ञान, मनोविज्ञान, भौतिक विज्ञान तथा रसायन विज्ञान आदि ने प्रत्यक्ष की प्रक्रिया के संबंध में जो विस्तृत जानकारी प्रयोग तथा निरीक्षण की मदद से संकलित की है उसमें उसका किञ्चित् भी समावेश नहीं है। और यह स्वाभाविक भी है। भला प्राचीनकाल में इन विज्ञानों का अस्तित्व ही कहां था कि दार्शनिक लोग प्रत्यक्ष की समस्या के संबंध में वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने का प्रयत्न करते ? जो कुछ

विचार इन लोगों ने किया वह सब स्वर तर्क (speculative) के रूप में ही हो सकता था। शायद यही कारण है कि प्रत्यक्ष प्रक्रिया जैसी एक वैज्ञानिक वस्तु के संबंध में विभिन्न दार्शनिकों ने विभिन्न कल्पनाएँ उपस्थित कीं और उनकी सत्यासत्यता को लेकर आपस में वे बराबर झगड़ते रहे। यह विचार (प्रत्यक्ष विषयक विचार पद्धतियों के बारे में) यदि सही हो तो केवल वेदान्त दर्शन को ही नहीं बल्कि अन्य भारतीय दर्शनों की प्रत्यक्ष संबंधी कल्पनाओं को भी अवैज्ञानिक करार दे कर छोड़ देना आवश्यक हो जायगा। वैज्ञानिक सिद्धान्त और उसका विरोधी अवैज्ञानिक सिद्धान्त ये दोनों साथ साथ नहीं चल सकते, और यदि इनमें से एक का परित्याग अनिवार्य हो जाय तो अवैज्ञानिक सिद्धान्त, याने दार्शनिक सिद्धान्त का ही त्याग करना होगा यह कहने की आवश्यकता नहीं। अतः जो व्यक्ति किसी दार्शनिक सिद्धान्त का तार्किक समर्थन प्रस्तुत करने का साहस करता है उसे, वैज्ञानिक सिद्धान्त और दार्शनिक सिद्धान्त के बीच कोई विरोध ही नहीं है, यह दिखलाना होगा, या वैज्ञानिक सिद्धान्त अधूरा है यह साबित करना होगा, या तथाकथित वैज्ञानिक सिद्धान्त वैज्ञानिक ही नहीं है, या वह वैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित ही नहीं है, यह समझाना होगा। यहां हम चूँकि वेदान्त की प्रत्यक्ष विषयक परिभाषा का समर्थन करने जा रहे हैं इसलिये हमें प्रत्यक्ष सम्बन्धी तथाकथित वैज्ञानिक विचारों का प्रतिवाद करना और उनका अधूरा-पन तथा तथ्यों पर उनका आधारित न होना, यह स्पष्ट करना आवश्यक हो गया है। किन्तु लेख के विस्तार की मर्यादा को सम्हालते हुए हम विभिन्न विज्ञानों, जैसे शरीर विज्ञान, शरीर क्रिया विज्ञान आदि—के द्वारा प्रकाशित प्रत्यक्ष संबंधी तथ्यों की यहां छानबीन नहीं कर सकेंगे, न यह आवश्यक ही है। कुछ मात्रा में भौतिक विज्ञान तथा मनोविज्ञान इनकी प्रत्यक्षविषयक मान्यताओं की ही चर्चा यहां की जायगी, क्योंकि वेदान्त सिद्धान्त का इन्हीं के साथ स्पष्टतया विरोध होता हुआ दिखलाई पड़ता है। एक बात और भी इस संबंध में कह देना हम आवश्यक समझते हैं। वेदान्त के समर्थन का प्रयत्न करते हुए हम यह नहीं सूचित करना चाहते हैं कि अन्य भारतीय दार्शनिकों के द्वारा प्रस्तुत प्रत्यक्ष विषयक स्पष्टीकरण तर्कसंगत नहीं है। हमारे विचार में उनका भी समर्थन अच्छी तरह संभव है, कम से कम वैज्ञानिक स्पष्टीकरणों से कहीं अच्छी तरह उनका समर्थन तर्क के द्वारा संभव हो सकता है। तथापि वेदान्त की दृष्टि से उनमें कुछ न्यूनताएँ हैं जो वैज्ञानिक स्पष्टीकरण में बहुत अधिक मात्रा में दिखलाई पड़ती हैं। इसी कारण उनका पुरस्कार भारतीय विचार परम्परा में पूर्णतया नहीं किया जाता।

यहां एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया जा सकता है जिसका तत्काल समाधान कर देना उपयुक्त होगा। वह यह है कि अद्वैत वेदान्त तो जगन्मिथ्यात्ववादी दर्शन है और प्रत्यक्ष की प्रक्रिया जगत् के साथ अत्यन्त घनिष्ठ रूप से संबंधित है। तब उसके संबंध में सत्य का अपलाप किये बिना वेदान्त कैसे कोई संतोषजनक स्पष्टीकरण प्रस्तुत कर सकता है? यदि प्रत्यक्षगम्य विश्व असत् है तो उसका प्रत्यक्ष भी असत् होगा। इस असत् के स्वरूप का विशद वर्णन क्या वैश्यापुत्र के सौंदर्य के बखान की तरह नहीं होगा? इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार से कुछ लोग दिया करते हैं कि, वेदान्त जैसे विश्वमिथ्यात्ववादी है वैसे ही

एक अर्थ में वह विश्व सत्यत्ववादी भी माना जा सकता है। विश्व ब्रह्म से अलग कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं रखता। विश्व में प्रतिभासित होने वाली सत्ता ब्रह्म की ही सत्ता है, अतः स्वतन्त्र सत्ता युक्त वस्तु के रूप में विश्व असत् ही है। इस असत् का विचार निष्प्रयोजन है। रस्सी में दृश्य सांप का अस्तित्व एक ओर रस्सी और दूसरी ओर द्रष्टा दोनों के अज्ञान के सहयोग का परिणाम है। केवल अज्ञान से सांप का आभास नहीं पैदा हो सकता। ऐसे निरविधान आभास का अस्तित्व कुछ बौद्ध लोग मानते हैं किन्तु वेदान्ती सत्य के अविष्टान को अज्ञान निर्मित आभास के लिये नितान्त आवश्यक समझते हैं। कारण यह है कि अज्ञान आभास को पैदा कर सकता है लेकिन उसको सत्य का स्वरूप दिलाने तथा बनाये रखने के लिये सत्य के आविष्टान की आवश्यकता होगी ही। अतः असत्य विश्व के असत्य प्रत्यक्ष ज्ञान का भी अनुसंधान वेदान्त की दृष्टि से समर्थनीय है। असत्य स्वतंत्र रूप से असत् होते हुए भी अविष्टान-सत्य के आभास के रूप में तो सत् ही है। उपर्युक्त प्रश्न का यह समाधान हमें विशेष नहीं जँचता। आभास यदि सत्य का अभिन्न घटक होकर ही सत्य है तो चूंकि सत्य बिल्कुल भेद-रहित तथा निर्विशेष है अतः आभास का विश्लेषण करना और उसकी परिभाषा प्रस्तुत करने का प्रयत्न करना यह निर्विशेष सत्य के घटकों या विशेषों को बतलाने का दावा करने के समान व्याघातपूर्ण होगा। अतः हमारा उक्त प्रश्न का उत्तर यह है कि वेदान्त अन्ततोगत्वा विश्वमिथ्यात्ववादी होने के कारण ही प्रत्यक्ष जैसी अत्यन्त व्यावहारिक प्रक्रिया का सर्वाधिक यथार्थनिष्ठ स्पष्टीकरण देने में अपने को समर्थ पाता है। बात यह है कि जो दर्शन अंशतः या पूर्णतः यथार्थवादी हैं वे वस्तुस्थिति का कुछ न कुछ अपलाप किये बिना अपने अपने सिद्धान्तों की रचना ही नहीं कर सकते। हर दर्शन को दूसरे दर्शनों का प्रतिवाद कर ही अपनी स्थापना करनी पड़ती है। किन्तु वेदान्त को व्यवहार के किसी पक्ष का अपलाप कर किसी दूसरे पक्ष को उभार देने का आवश्यकता नहीं है। वह तो अंतिम सत्य के रूप में विश्व के एक अंश का मो परिग्रह नहीं करता। किन्तु अंतिम सत्य की बात छोड़कर व्यावहारिक सत्य को छानबीन की ओर जब वह अग्रसर होता है तब इस सत्य के सभी पक्षों को वह समान महत्व देना ही पसंद करता है। किसी पक्ष विशेष का समर्थन करने की उसे कोई आवश्यकता ही नहीं होती। अतः यह कहा जा सकता है कि यदि पारमार्थिक रूप में वेदान्त यथार्थवाद का घोर विरोधी है तो व्यावहारिक रूप में वह शत-प्रतिशत यथार्थवादी भी है। अद्वैत से बढ़कर यथार्थवाद का उस के अपने क्षेत्र में समर्थक कोई दूसरा दर्शन नहीं हो सकता। यह बात एक अन्य संदर्भ में माध्यमिक कारिका के व्याख्याकार चन्द्रकीर्ति ने विस्तार के साथ (माध्यमिक दर्शन की भूमिका समझाते हुए) अपनी पुस्तक 'प्रसन्नप्रदा' में बतलायी है।

अब हम प्रत्यक्ष ज्ञान की स्थिति (Perceptual situation) का भौतिक तथा मनोविज्ञान सम्मत स्वरूप स्पष्ट कर समझाने की चेष्टा करेंगे कि यह स्पष्टीकरण कितना अधूरा है और इसमें समाविष्ट की गयी कृतियाँ (Concepts) कैसे अप्रतिष्ठित हैं। कल्पना करें कि मेरे सामने एक मेज़ रखी हुई है जिसकी ओर अकस्मात् मेरी आँखें मुड़ती हैं और मुझे उसका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। ज्ञान की पूर्ववर्ती प्रक्रियायें इस प्रकार विज्ञान के द्वारा

वर्णित होगी। प्रकाश की विभिन्न तरंगों में से मेज़ पर बराबर गिरती रहती हैं जिनमें से कुछ मेज़ में ही समा जाती हैं (इसका कारण मेज़ की अंतर्गत आणविक रचना है) और कुछ उसमें न समा कर उसकी सतह पर से उलटती और मेरे दृष्टि-पटल पर आ टकराती हैं : वहां से वे मेरी पुतलियों के पीछे रेटिना के संवेदनक्षम बिन्दु (Fovea centralis) तक जा पहुँचती हैं। इस बिन्दु या अवयव की रचना बड़ी जटिल होती है। इसके तफ़सील में न जाते हुए इतना कह देना पर्याप्त होगा कि प्रकाश तरंगों की इस केन्द्र के घटकों पर एक रासायनिक प्रतिक्रिया घटित होती है जिस का असर अनेक मध्यवर्ती संवेदवाहिनियों (Neurons) के रास्ते दिमाग के एक खास हिस्से (Ophthalmic region) में पहुँचता है। यहां भी कई प्रकार की रासायनिक प्रतिक्रियाएँ घटित होती हैं। यहां यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि संवेदन दिमाग में होनेवाली प्रतिक्रियाओं का परिणाम मात्र कहा गया है। वह कहाँ घटित होता है इसके संबंध में कोई विज्ञान कुछ भी निश्चित रूप से कहने के लिए तैयार नहीं प्रतीत होता।

उक्त प्रक्रिया का मनोवैज्ञानिकों ने जरा भिन्न ढंग से किन्तु उसकी मूलभूत मौलिक मान्यताओं को न भुलाते हुए वर्णन किया है। मेज़ में न समायी हुई जो प्रकाश तरंगें दृष्टिपटल पर आ टकराती हैं उन्हें मनोवैज्ञानिक उत्तेजक (Stimulus=S) कहते हैं। इनके द्वारा शरीर का जो जो भाग प्रभावित होता है उसे वे चेतन शरीर (Organism=O) कहते हैं। इस शरीर की दृश्य वस्तु की दिशा में जो जो हरकतें या प्रक्रियाएँ उत्तेजक के द्वारा उत्पादित उत्तेजना के फलस्वरूप घटित होती हैं उन्हें 'प्रतिक्रिया' (Response=R) यह सामान्य नाम दिया जाता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष का वर्णन करने वाला एक सूत्र जिसे 'S-O-R Formula' यह अंग्रेजी में नाम दिया गया है, मनोवैज्ञानिकों ने प्रस्तुत किया है। यह प्रत्यक्ष का संक्षिप्त वर्णन है। अन्य घटकों का अन्तर्भाव कर इस सूत्र का विस्तार भी किया गया है। उदाहरणतः शरीर की प्रतिक्रिया का एकरूप निर्देश न करते हुए उसकी अन्तर्गत अवस्थाओं का विश्लेषण प्रस्तुत किया जाय तो इस सूत्र का विस्तार किया जा सकता है। शरीर अकस्मात् कोई सुसंघटित प्रतिक्रिया नहीं करता। प्रतिक्रिया के पूर्व उसे कुछ तैयारी करनी पड़ती है या अपने आप उसकी यह तैयारी हो जाती है। इसे शारीरिक संतुलन 'Set' कहते हैं। संतुलन के परिणाम स्वरूप ही शरीर का वस्तु के आकलन (यह शब्द बिल्कुल सामान्य अर्थ में यहां प्रयुक्त हुआ है) के अनुरूप हालचाल हुआ करता है। इस प्रकार उत्तेजक, उत्तेजना, उत्तेजित शरीर, शरीर का संतुलन और उसकी प्रतिक्रियाएँ इस सब के समुचित स्वरूप को मनोवैज्ञानिक 'प्रत्यक्ष' यह नाम देने हैं। (बहुत सी अवान्तर बातें विवेचन की सुविधा का ख्याल करते हुए इस वर्णन में नहीं समाविष्ट की गयी हैं)।

अब समालोचना के लिए उक्त भौतिक तथा मनोवैज्ञानिक विश्लेषणों पर हम साथ ही साथ विचार करेंगे। उत्तेजक प्रकाश तरंगों में से निकल कर दृष्टि पटल पर आघात करती है यह बात मानने में किसी को आपत्ति नहीं होगी (हालांकि इस पर भी यह आक्षेप किया जा सकता है कि जो प्रकाश तरंगों में से न समा कर उसकी सतह से टकरा कर प्रत्यावृत्त हुईं उन्हें मेज़ का निदर्शक कैसे माना जा सकता है ?) किन्तु क्या इस पर से यह ज्ञात होता है

कि किस परिस्थिति में प्रकाश द्रष्टा को उत्तेजित करेगा और उसे वस्तु का किस प्रकार का ज्ञान होगा ? उत्तेजक तो सिर्फ प्रकाश होता है लेकिन ज्ञान होता है वस्तु का। कोई भी द्रष्टा यह नहीं अनुभव करता कि वह किसी प्रकाश तरंग को, या किसी वर्ण पटल को, या आकार को देखता है। अनुभव तो 'मैं अमुक अमुक आकार की वस्तु को देखता हूँ' ऐसा ही हुआ करता है। शायद यही कारण है कि आधुनिक संवेदवादी उक्त अनुभव में से वस्तु का अंश निकाल देना या उसका कोई और ही अर्थ लगाना पसंद करते हैं। लेकिन वे भी यह अस्वीकार नहीं कर सकते हैं कि द्रष्टा तक जितनी और जिस रूप में बाह्य उत्तेजक की उत्तेजना पहुँचती है उस से अधिक और भिन्न ही बातें उसे सामने दिखाई पड़ती हैं। ऐसा न होता तो प्रकाश की तरंगें तरंगों के रूप में और बिल्कुल आँख की सतह पर ही क्यों न दिखलाई पड़तीं ? प्रकाश-तरंग और वस्तु का रंग इनमें जमीन आसमान का फर्क है। तरंगों के जरिये प्रत्यक्ष की उपपत्ति देने की कोशिश करना कारण और कार्य के फर्क को बिल्कुल भुला देने के सिवा और कुछ नहीं हो सकता।

'उत्तेजक' की कल्पना की यही एक न्यूनता नहीं है। उसकी सब से बड़ी न्यूनता यह है कि उसको द्रष्टा की उत्तेजना का पूर्ण निर्वारक किसी भी हालत में नहीं माना जा सकता। उत्तेजक वस्तु के गुणों (Objective properties) को वैज्ञानिक लोग गिनायें, वे कभी विश्वास के साथ यह नहीं कह सकते कि सारा विशेषताओं से युक्त उत्तेजक की उपस्थिति में द्रष्टा के शरीर में उत्तेजना पैदा होगी ही। द्रष्टा का मन उत्तेजक वस्तु से भिन्न किसी बाह्य में उलझा रहे तो उत्तेजक उसके बिल्कुल सामने होते हुए भी उस पर कोई असर नहीं डाल सकता। सामान्य परिस्थितियों में चाहे उत्तेजक ही द्रष्टा को उत्तेजित करे, उस पर से यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होगा कि अमुक-अमुक प्रकार का उत्तेजक ऐसी ऐसी उत्तेजना स्वयं उत्पन्न करेगा ही। हर हालत में कम-अधिक मात्रा में द्रष्टा का सहयोग उसके शरीर में उत्तेजना उत्पन्न करने के लिये नितान्त आवश्यक है। यह बात वेदान्त की आत्मा की स्वरूप संबंधी कल्पना के लिये बहुत महत्वपूर्ण है। वेदान्त आत्मा को पूर्णतया स्वतन्त्र मानता है। आत्मा शरीर, मन आदि से छुटकारा प्राप्त कर सकती है क्योंकि अन्ततोगत्वा आत्मा के सभी बंधन उसी के अपने निर्माण किये हुए हैं। आत्मा का आत्म स्वरूप विषयक अज्ञान जिस द्वाण नष्ट होगा उसी क्षण उसके सारे बंधन भी नष्ट हो जायेंगे। विज्ञान को आत्मा का स्वातंत्र्य मान्य न होने के कारण वह उत्तेजक की विशेष परिस्थितियों में असमर्थता का संतोषदायक स्पष्टीकरण नहीं दे सकता। साथ ही वह उत्तेजक और दृश्य वस्तु इनके बीच जो बहुत बड़ा अन्तर पड़ जाता है उसका स्पष्टीकरण भी नहीं दे सकता। इस अन्तर को अच्छी तरह समझने पर विज्ञानवादियों का यह कथन ही उपयुक्त लगने लगता है कि दृश्य वस्तु आन्तरिक विज्ञान का बाह्य रूप है नकि बाह्य रूप, रस, गंधादि से बनी हुई स्वतन्त्र सत्ता है।

चेतन शरीर की वैज्ञानिक कल्पना भी उतनी ही भोड़ी है जितनी उत्तेजक की। शरीर का अंशमात्र उत्तेजित होता है लेकिन उसका स्वीकार सारा शरीर कर लेता है। यह बात

कैसे संभव होती है ? आँखों में ही प्रकाश संवेदना घटित होते हुए भी न आँख को देखने का अनुभव होता है न दिमाग को । आँख और दिमाग से बिना द्रष्टा ही (यह कौन है यह बतलाना आवश्यक नहीं है किन्तु यह शरीर से अतिरिक्त अपनी सत्ता को सदा अनुभव करता है इतना तो मानना ही पड़ेगा) वस्तु को देखने का अनुभव करता है । इस सम्बन्ध में यह बात भी विचारणीय है कि वस्तु को देखने का अनुभव उत्तेजना के अनुभव से उतना ही भिन्न है जितनी वस्तु प्रकाश तरंगों से भिन्न है । अतः वैज्ञानिक उक्त आक्षेप पर यह प्रतिवाद नहीं कर सकते कि शरीर के एक अंग में घटित होने वाली उत्तेजना पहले दिमाग में पहुँचती है और तदनंतर उसके द्वारा शरीर के अन्य अंगों में, या कम से कम दृष्टि से संबंधित अंगों में, प्रसारित होती है । ये अंग अपना अपना कार्य करते हैं यह मानते हुए भी हम यह कतई नहीं मान सकते हैं कि इनमें कोई दर्शनानुरूप उत्तेजना संक्रमित होती है ।

प्रत्यक्ष प्रक्रिया की अंतिम घटक समझी गई जो शारीरिक प्रतिक्रिया (Response) है उसका स्वरूप भी वैज्ञानिकों ने उतना ही अस्पष्ट रख छोड़ा है जितना पहले दो घटकों का । इस संबंध में पहली ध्यान देने योग्य जो बात है वह यह है कि प्रत्यक्ष की प्रतिक्रियात्मक कहना बिल्कुल अनुपयुक्त है । प्रत्यक्ष न शारीरिक प्रतिक्रिया है न मानसिक । प्रत्यक्ष ज्ञान और उसके घटित होने के मूलस्वरूप शरीर के विभिन्न अवयवों में जो क्रियाएँ होती हैं उन्हें एक रूप मान लेने का ही यह परिणाम है कि ज्ञान का वर्णन प्रतिक्रिया के रूप में वैज्ञानिक लोग निस्संकोच करने लगे हैं । वे यह साफ भूल जाते हैं कि ज्ञान एक आन्तरिक वस्तु या अवस्था है जिसका शरीर पर किसी भी रूप में स्पष्ट होना अनिवार्य नहीं है । ज्ञान और उसके साथ या उसके अनंतर घटित होने वाली शारीरिक क्रियाएँ उतनी ही एक दूसरे से भिन्न हैं जितने उत्तेजक और दृश्य विषय या उत्तेजना और संवेदन । set या शारीरिक संतुलन की कल्पना का भी ठीक ठीक विश्लेषण देना बड़ी टेढ़ी खीर है । वैज्ञानिक समझता है कि यह संतुलन शरीर का है । उदाहरणतः किसी वस्तु को देखने के लिये उसकी ओर दृष्टि दौड़ानी या लगानी पड़ती है । आँखों की स्नायुओं में विशिष्ट प्रकार का संतुलन लाना पड़ता है, अन्य अवयवों का भी अनुरूप ढंग से अवस्थित करना पड़ता है । लेकिन शरीर के सब अवयवों को ठीक ठीक स्थिति में लाने पर भी वस्तु का दर्शन होगा ही ऐसा निश्चय से नहीं कहा जा सकता । क्योंकि संतुलन अन्ततोगत्वा मानसिक बात होती है न कि शारीरिक । यह बात अलग है कि मानसिक संतुलन होने पर शरीर का संतुलन अपने आप प्रस्थापित हो जाता है, उसके लिये किसी प्रयत्न की अपेक्षा नहीं होती । यदि मानसिक संतुलन न बने तो लाख कोशिश करने पर भी शारीरिक संतुलन काम नहीं देता ।

अबतक की समालोचना यद्यपि बहुत संक्षिप्त है तथापि उसपर से यह अच्छी तरह स्पष्ट हो गया होगा कि न भौतिक विज्ञान न मनोविज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान का स्पष्टीकरण दे सकते हैं । वे केवल प्रत्यक्ष ज्ञान के अनुरूप भौतिक तथा शारीरिक परिस्थितियों का ही अंशतः उद्धार कर पाये हैं । यदि इन परिस्थितियों का ही वे सुस्पष्ट तथा व्यापक स्पष्टीकरण प्रस्तुत करते तो भी उनका महत्व मानने के लिए हम तैयार हो जाते । लेकिन यह कार्य भी विज्ञान नहीं कर

पाया है। शायद इसका कारण यह है कि प्रत्यक्ष ज्ञान की परिस्थिति (Perceptual Situation) का जटिल स्वरूप वैज्ञानिक लोग नहीं अनुभव कर पाये हैं। इस परिस्थिति का जैसे एक बाह्य स्वरूप है वैसे ही उसका एक आंतरिक स्वरूप भी है, और वास्तव में यही अत्यधिक महत्वपूर्ण है। लेकिन इसका प्रायोगिक अभ्ययन असंभव है। चूँकि वैज्ञानिक लोग सभी अभ्ययनाहं बातों को प्रयोगाहं मानते आये हैं अतः वे प्रत्यक्ष ज्ञान की परिस्थिति के उतने ही अंश को सत्य मानते हैं जितना प्रयोगाहं है, और जो अंश ऐसा नहीं है उसे वे असत्य या अविचारणीय ठहराकर अपने दायित्व से मुक्त हो जाते हैं। यदि इस प्रकार सभी समस्याओं को विचार की सुविधा का ख्याल करते हुए हम इच्छानुसार सरल रूप देने लग जायें तो अत्यंत कठिन समस्याएं भी बड़ी आसानी से हल हो जायें।

कुछ दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष ज्ञान की पोषक परिस्थितियों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। प्रत्यक्ष का स्पष्टीकरण मोटेतौर पर दो तरह से किया जा सकता है। एक तो उक्त परिस्थितियों के घटकों का यथावत् निर्देश करके और दूसरा प्रत्यक्ष का ही स्वरूपाविष्करण कर। भारतीय दार्शनिक परिभाषा में पहले को प्रत्यक्ष का तटस्थ लक्षण और दूसरे को उसका स्वरूप लक्षण कह सकते हैं। तटस्थ लक्षण में लक्ष्य के कारणों या अवांतर घटकों का निर्देश समाविष्ट रहता है जबकि स्वरूपलक्षण में लक्ष्य के स्वरूप का ही विश्लेषण या निर्देश प्रस्तुत किया जाता है। उदाहरणतः, न्याय दर्शन की प्रत्यक्ष की यह परिभाषा कि 'इन्द्रिय और विषय इनके विभिन्न प्रकार के सन्निकर्षों के (संयोग के ही नहीं) फलस्वरूप उत्पन्न होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है', उपर्युक्त लक्षणों में से प्रत्यक्ष के तटस्थ लक्षण को प्रस्तुत करती है। इस परिभाषा में उत्तेजक के स्थान में विषय का, शरीर के स्थान में इन्द्रियों का (इनमें मन का भी समावेश है), उत्तेजन के स्थान में सन्निकर्ष का और प्रतिक्रिया के स्थान में ज्ञान का निर्देश किया होने से पूर्वोक्त वैज्ञानिक परिभाषा के अविकांश दोषों का अपने आप अपसारण हो गया है। विषय और इन्द्रियां इनके संबंध के स्वरूप का विलकुल नपातुला वर्णन करने के कारण (ये सम्बन्ध छः प्रकार के माने गये हैं। प्रत्यक्ष की परिभाषा में किसी तरह का भ्रंशोपन नैयायिकों ने नहीं आने दिया है। तथापि प्रत्यक्ष के स्वरूप का इस परिभाषा के द्वारा निर्धारण नहीं हो पाता, अतएव आगे चलकर 'अव्यपदेश्यं, अव्यभिचारि, व्यवसायात्मकं' इत्यादि अन्य विशेषण इसमें जोड़े गये हैं। इनके द्वारा प्रत्यक्ष के स्वरूप का, उसके कारणों का नहीं, निषेध के द्वारा वर्णन करने का प्रयत्न किया गया है। जो ज्ञान शब्द निर्देश्य नहीं, याने 'अव्यपदेश्य' है, वह प्रत्यक्ष है, यह कहने का उद्देश्य यह होता है कि प्रत्यक्ष शब्दजन्य ज्ञान से भिन्न है। लेकिन इतने पर से भी यह स्पष्ट नहीं होता कि प्रत्यक्ष स्वयं क्या है? इसी प्रकार 'प्रत्यक्ष अव्यभिचारि' है यह कहने से प्रत्यक्ष अर्थार्थ नहीं होना चाहिए यह तो ज्ञान होता है लेकिन उसका अपना स्वरूप क्या है यह नहीं समझ में आता। अंतिम विशेषण 'व्यवसायात्मक' यही ऐसा है जिससे प्रत्यक्ष का स्वरूप समझने में थोड़ी बहुत मदद होती है, लेकिन व्यवसायात्मकता या निश्चयात्मकता अन्य ज्ञानों में भी विद्यमान होने से उसके जरिये प्रत्यक्ष का स्वरूप निर्धारण नहीं हो सकता। इस प्रकार न्यायवैशेषिकादि दर्शनों की

परिभाषायें (विचार कर देखा जाय तो) विज्ञान की प्रत्यक्ष सम्बन्धी अवधारणाओं से काफी परिष्कृत होती हुई भी बिल्कुल निर्दोष नहीं मानी जा सकती।

अब हम वेदान्त की परिभाषा का संक्षेप में विचार प्रस्तुत करेंगे। वेदान्त के अनुसार सभी वस्तुओं का—चाहे वे मानसिक हों या बाह्य—वास्तविक स्वरूप चैतन्य ही है। अतः द्रष्टा, दृश्य आदि भेद—जो किसी भी ज्ञान के घटित होने के लिये आवश्यक हैं—सत्य नहीं हो सकते। लेकिन द्रष्टा, दृश्य, दर्शन और दर्शक प्रमाण इन चार ज्ञान सम्बन्धी परिस्थिति के घटकों का अलग अलग सत्यत्व माने बिना ज्ञान की उपपत्ति नहीं दी जा सकती। इस कठिनाई पर वेदान्त का समाधान इस प्रकार है: कोई भी वस्तु किसी अन्य वस्तु से मूलतः भिन्न न होते हुए भी अज्ञान-निर्मित उपाधियों के कारण जहां-तहां भेद या वैविध्य की प्रतीति होती रहती है। चैतन्य के रूप में सब कुछ एक रूप होते हुए भी भिन्न भिन्न परिच्छेदक उपाधियों के कारण कोई वस्तु द्रष्टा के तो कोई दृश्य के रूप में दिखलाई पड़ती है। मूलतः अभिन्न तथा एकरूप ऐसी वस्तुओं में दिखलाई पड़ने वाला (उपाधिकृत भेद) हमेशा एक अस्थिर संतुलन (Instable equilibrium) की स्थिति में ही बना रह सकता है। चूंकि परिच्छेदक उपाधियाँ स्वयं सिद्ध न होकर केवल अज्ञान-निर्मित होती हैं अतः उनका अस्तित्व ही जहां डावाँडोल होता है वहां उन्हीं पर टिके हुए भेद भी डावाँडोल ही हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। उदाहरणतः एक मिट्टी के घड़े को हम घड़ा कहते हैं और घड़े की तरह ही उसका प्रयोग करते हैं। लेकिन मिट्टी के रूप में या एक लाद्य-पदार्थ के रूप में भी चाहें तो हम उसका प्रयोग कर सकते हैं। इस प्रकार एक ही घड़े में अनंत रूप हम देख और पा सकते हैं। इनमें से किस रूप को घड़े का स्वाभाविक रूप माना जाय यह ठहराना हमारी इच्छा पर ही निर्भर करता है। लेकिन इन सभी विविध रूपों में एक बात हम अनुस्यूत पाते हैं, वह है घड़े की हर रूप में अपने को अभिव्यक्त करने की या जिस भी रूप में हम उसे देखना चाहें उस रूप में, उसकी दिखलाई पड़ने की शक्ति। इस शक्ति के पीछे है चैतन्य, जो उतनी ही मात्रा में घड़े में विद्यमान है जितना उसके द्रष्टा में या उसके ज्ञान में। इस चैतन्य की भीतर-बाहर अनुस्यूतता और व्यापक सत्ता का अनुभव क्वचित् ही हो पाता है किन्तु प्रत्यक्षानुभव में आंशिक रूप में इस सत्ता की प्रतीति होती है। किसी भी वस्तु के प्रत्यक्षानुभव में द्रष्टा और दृश्य क्षण मात्र के लिये एकरूप हो जाते हैं। द्रष्टा अपने स्थान में और दृश्य अपने स्थान में एक दूसरे से अलग थलग होकर पड़े रहें तो प्रत्यक्ष ज्ञान कदापि घटित नहीं हो सकता। दृश्य वस्तु में का चैतन्यांश द्रष्टा को अपनी ओर आकृष्ट करता है और द्रष्टा में का चैतन्यांश उसकी ओर उन्मुख होता है। विषय और विषयी का आकर्षण परस्पर सदृश (या मूलतः एकरूप) वस्तुओं का आकर्षण है। इसके फलस्वरूप द्रष्टा और दृश्य एक दूसरे के समीप पहुँचते तथा अपने अपने औपाधिक भेदों को गँवा बैठते हैं। क्षणमात्र के लिए इन दोनों के बीच चैतन्य की एकता प्रस्थापित हो जाती है और इसी एकता को 'प्रत्यक्षज्ञान' यह नाम हम दिया करते हैं। इस पर से यह बात प्रकट होती है कि वस्तुओं के सभी पारस्परिक भेद इतने अस्थिर होते हैं कि उनका, अधिकाधिक सन्निकट तथा गहरे ज्ञान से सहज ही अपसरण हो

जाता है। यदि यह कथन सत्य न हो तो एक अनपढ़ मनुष्य को, एक पढ़े लिखे मनुष्य को, एक सुसंस्कृत मनुष्य को, एक कलाकार को, एक शास्त्रज्ञ को और एक तत्ववेत्ता को एक ही वस्तु में—जैसे एक फूल में—अलग अलग बातें क्यों दिखलाई पड़ती हैं? द्रष्टा की दृष्टि जितनी परिष्कृत होती है, याने वेदान्त के शब्दों में, द्रष्टा ने अपनी आत्म-भावना को आवृत करने वाली जितनी उपाधियों से मुक्ति पायी है, उतना ही वह दृश्य के सन्निकट पहुँच पाता है और उसके गूढ़, गूढ़तम स्वरूप का आकलन करने में समर्थ होता है। द्रष्टा अपने अनजाने ही न जाने कितने आवरणों या उपाधियों से अपनी दृष्टि को आवृत या परिच्छिन्न कर देता है जिसके परिणामस्वरूप उसके और दृश्य के बीच अनेकानेक औपाधिक व्यवधान निर्मित होते चले जाते हैं। सामान्य प्रत्यक्षज्ञान इन व्यवधानों में से कुछ को ही हटा पाता है। किन्तु दृश्य को सरसरी तौर पर देखना, भरी नजर देखना, गौर से देखना, आँख गड़ाकर देखना, एकाग्रता से देखना, विभोर होकर देखना, तल्लीन होकर देखना, देखते देखते दृश्य में ही डूब जाना ऐसे देखने के अनेक अधिकाधिक उत्कट प्रत्यक्षज्ञान के तरीके हैं जो द्रष्टा और दृश्य के मध्यवर्ती व्यवधान परंपरा का क्रमशः अपसारण कर इन दोनों के बीच चैतन्य की एकता प्रस्थापित करते हैं। इस ऐक्यानुभूति का एक छोटा सामान्य प्रत्यक्ष ज्ञान है तो दूसरा छोटा है समाधि। लेकिन इन दोनों में ऐक्यानुभूति बिल्कुल कम या अत्यधिक मात्रा में बनी ही होती है। वेदान्त ने इसी अनुभूति को प्रत्यक्ष का स्वरूप—निर्धारक माना है। मोटे तौर पर हम यह कह सकते हैं कि हरेक प्रत्यक्षज्ञान यह ब्रह्मासाक्षात्कार की या विश्वव्यापी चैतन्यमय सत्ता की एक क्षणिक प्रतीति है जो क्षणमात्र स्थायी होने से या सब उपाधियों से पूर्णतया उन्मुक्त न होने से ही ब्रह्मानुभूति जैसी नहीं प्रतीत होती। फिर भी प्रत्यक्ष में क्षणिक नाबोन्य, चमत्कार और आनन्द आदि का जो अनुभव होता है उसे ब्रह्मानुभूति का ही लक्षण कहना उपयुक्त होगा (यहां यह ध्यान रखना आवश्यक है कि नाबोन्य रहित ज्ञान को वेदान्ती प्रत्यक्ष रूप नहीं मानते)।

प्रत्यक्ष ज्ञान के क्षण में ज्ञान और विषय इनमें जो मूलभूत चैतन्य की एकता अभिव्यक्त होती है वह शब्दातीत होती है, लेकिन उसका शब्दों में बाद में जो वर्णन किया जाता है उसमें अनिवार्यतः इस एकता का भंग हो जाने पर भी उसका कुछ न कुछ आभास इस वर्णन में भी अवशिष्ट रह ही जाता है। उदाहरणतः मेज़ को देख कर जब मैं कहता हूँ कि 'मैं मेज़ देख रहा हूँ', तब 'मैं' 'मेज़' और 'देखने की क्रिया' ये सब एक दूसरे के साथ इस तरह जुड़े हुए हमारे सामने आते हैं कि इनकी एक दूसरे से असंयुक्त रूप में कल्पना करना ही कठिन हो जाता है। यदि देखने की क्रिया को मुझ से, याने देखने वाले से, अलग कर दिया जाय—जैसा कि तार्किक भाववादी अनात्मवादी करते हैं, तो उपर्युक्त वर्णन इस प्रकार बदल जायगा—'मेज़ का देखना अपने को 'मैं' कहने वाले व्यक्ति में घटित हो रहा है'। इसी प्रकार देखने को दृश्य वस्तु से बिल्कुल अलगा दिया जाय तो यही वर्णन इस प्रकार बदल देना होगा—'मेज़ और ज्ञान एक दूसरे के साथ संबद्ध हो रहे हैं (यह 'मेज़ ज्ञान के साथ अपने को जोड़ रहा है)। यदि ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञापक प्रमाण इनमें से किसी भी अंश को प्रधान

ठहराकर बाकी तीनों को उसी में समाविष्ट कर देने या उन्हें गौण ठहरा देने का प्रयत्न किया जाय तो उसका भी ऊपर जैसा ही नतीजा निकलेगा। उदाहरणतः ज्ञाता में ज्ञान, ज्ञेय व ज्ञापक को यदि हम समाविष्ट कर दें तो 'मेज़ मैं हूँ' ऐसा उक्त वर्णन का स्वरूप होगा। यह वर्णन दृष्टि-सृष्टिवादियों के मतानुरूप विषयीनिष्ठ आदर्शवाद होता है। दृश्य में द्रष्टा, दर्शन और दर्शक प्रमाण इनका समावेश कर दें तो 'मेज़ ज्ञेय है' (यहां ज्ञेयता मेज़ का एक आकस्मिक धर्म मानना होगा) ऐसा उक्त वर्णन को बदलना होगा। यह वर्णन तार्किक भाव-वादियों की भूमिका के अनुरूप है। दर्शन में द्रष्टा, दृश्य और दर्शक प्रमाण का अंतर्भाव कर दिया जाय तो 'मेज़ रूप आकार युक्त संवित् है' ऐसा यह वर्णन होगा। यह मत विज्ञानवादियों का है। अन्त में यदि दर्शक प्रमाण में दृश्य-दर्शन और द्रष्टा का अन्तर्भाव कर दिया जाय तो 'मेज़ रूप निर्देश्य (Meaning या Referend) विद्यमान है' ऐसा उक्त वर्णन का रूपांतर करना होगा। यह रूपांतर आधुनिक तार्किक व्याकरण (Logical syntax) की विचार-सरणी के अनुकूल होगा। लेकिन इन वर्णनों में से एक भी ज्ञान, विषय, ज्ञाता और ज्ञापक इनकी ज्ञान की परिस्थिति में प्रकट होने वाली एकता को व्यक्त नहीं कर पाता। ज्ञान के वर्णन के लिये भी ज्ञान, ज्ञेय आदि की मूलभूत एकता का थोड़ा बहुत प्रत्यय लाने वाले शब्द ही प्रयोग में लाने चाहियें।

अब हम संक्षेप में कुछ अन्य महत्वपूर्ण बातों पर विचार करेंगे। द्रष्टा को वेदान्ती अन्तःकरण परिच्छिन्न चैतन्य कहता है। इसका कारण यह है कि बुद्धि, मन, अहंकार और चित्त इन अन्तःकरण घटक चार करणों के अपने अलग अलग कार्य (Functional multiplicity) होते हुए भी इनके पीछे या इनमें अनुभूत एक आनुभविक एकता (intuitional identity) है जिसके ये सब विविध आभास कहे जा सकते हैं। द्रष्टा बुद्धि, मन आदि का सहारा लेकर कार्य करता है किन्तु वह न बुद्धि है न अहंकार, न चित्त, न मन, न इन सब का वह समुचित रूप ही है। प्रमाण को 'अन्तःकरण वृत्ति परिच्छिन्न चैतन्य' ऐसा वेदान्ती कहते हैं। इसका कारण यह है कि अन्तःकरण उल्लसित होकर विषय की दिशा में जब प्रसृत होता है तब उक्त प्रमाता का ध्यान इतना संकुचित होता है कि वह विषय का आकलन कर सके। प्रमाता की व्यापक और आत्मलीन चेतना विषय की ओर मुड़कर जबतक कुछ संकुचित नहीं हो जाती तबतक आन्तरिक आत्मा का बाह्य विषय के साथ संपर्क स्थापित नहीं हो सकता। इस संकोच को ही 'वृत्ति' कहा जाता है। वृत्ति के द्वारा ही प्रमाता और प्रमेय के बीच में प्रमेय या विषय के अपने स्थान में संबंध (प्रथम उपाधियों का और बाद में उपाधि परिच्छिन्न चैतन्य का) प्रस्थापित होता है। इस विवेचन में, वैज्ञानिक स्पष्टीकरण के संबंध में जो आक्षेप पीछे उपस्थित किये गये थे उनका कैसे अनायास निरसन हो जाता है, यह समझाने की जरूरत नहीं होगी।

नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर।

भारतीय दर्शन में निराशावाद—एक मूल्यांकन

कार्यानन्द शर्मा

भूमिका :—

जीवन और जगत् के सम्बन्ध में किए गए बौद्धिक चिंतन को ही दर्शन कहा जाता है। हम बौद्धिक प्रयासों के द्वारा जगत् की गुत्थियों को सुलझाने का प्रयास करते हैं और जीवन के रहस्यों के उद्घाटनार्थ अपना बौद्धिक चिंतन प्रारम्भ करते हैं। दर्शन का इतिहास यह बताता है कि प्रत्येक दार्शनिक जीवन और जगत् के संबंध में एक विशेष दृष्टिकोण रखता है। जीवन के संबंध में दार्शनिकों के दृष्टिकोण को उनका जीवन-दर्शन कहा जाता है। अगर जीवन के सम्बन्ध में दार्शनिकों की विचारधारा पर ध्यान दिया जाय तो अनेक प्रकार के दृष्टिकोण हमारे समक्ष आएंगे। इस सम्बन्ध में परस्पर विरोधी विचारधाराओं की भी झलक चिंतन के इतिहास में मिलनी है। किसी ने जीवन को आनन्दमय माना है तो किसी दूसरे ने उसे दुःखमय माना है। किसी ने जीवन को सँजोने का विचार दिया है तो किसी दूसरे ने जीवन से जल्द मुक्ति पाने का विचार रखा है। पुनः, किसी ने जीवन को भाग्याधारित माना है, तो दूसरे ने इसे कर्माधारित माना है। अर्थात् अगर एक वर्ग के विचारकों ने जीवन की सफलता के लिए भाग्य का भरोसा किया है तो दूसरे ने मनुष्य को ही अपने भाग्य का निर्माता कबूल किया है। अगर किसी ने कर्म एवं त्याग में जीवन का सौन्दर्य देखा है तो दूसरे ने सुख-भोग में जीवन की इतिश्री समझी है।

जीवन के संबंध में व्यक्त विचारों को मोटे तौर पर दो वर्गों में रखा जा सकता है। एक वर्ग वह है जो जीवन के प्रकाशमय पक्ष को देखता है, इसमें पायी जाने वाली खामियों को दूर कर इनकी खूबियों को प्राप्त करने की आशा रखता है। इस प्रकार की विचारधारा को आशावादी दर्शन कहा जाता है। दूसरा वर्ग वह है जो जीवन के बुरे पक्ष को अपनी अतिशयोक्तियों के साथ और भी बुरे रूप में अभिव्यक्त करता है और जीवन की खूबियों में विश्वास ही नहीं करता। इस तरह की विचारधारा का नाम 'निराशावाद' है।

निराशावाद की सामान्य व्याख्या :— वस्तुओं के बुरे पक्षों को देखने की हमारी मनोवृत्ति को निराशावाद कहते हैं। निराशावादियों के लिए यह जीवन दुःखमय है, क्षणिक है, इसमें त्रुटियाँ ही त्रुटियाँ हैं। यह संसार ही दुःखमय है। इन दुःखों से हम छुटकारा नहीं पा सकते। एकमात्र समाधान यह है कि हम इस जीवन से शीघ्रातिशीघ्र मृत्यु के माध्यम से

मुक्ति पा लें। मुक्ति का दूसरा उपाय है ही नहीं। पाश्चात्य दर्शन में शोपेनहावर (Schopenhaver) और भारतीय दर्शन में बुद्ध को निराशावाद का नेता माना गया है। कुछ लोगों का तो विचार है कि समस्त भारतीय दर्शन निराशावादी है। लार्ड रोन्ल्डशे के शब्दों में “निराशावाद समस्त भारतीय भौतिक और आध्यात्मिक जीवन में व्याप्त है”।^१ पाश्चात्य दर्शन में शोपेनहावर के अतिरिक्त हार्टमैन और नित्से को भी आंशिक रूप में निराशावादी माना गया है।

जिस तरह बुद्ध ने ‘सर्वं दुःखं दुःखम्’, ‘सर्वं क्षणिकं क्षणिकम्’ कहकर संसार तथा जीवन की दुःखमयता और अनित्यता की घोषणा की, उसी प्रकार पाश्चात्य दार्शनिक शोपेनहावर ने भी इस संसार में बुराई के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं देखा। लाइबनीज़ ने कहा था—“विद्यमान दुनियाँ अच्छी से अच्छी संभव दुनियाँ है।” लेकिन इसके ठीक विपरीत शोपेनहावर ने कहा कि यह दुनियाँ सबसे बुरी दुनियाँ है। जीवन में अनेक क्लेश हैं। जन्म लेने के समय दुःख होता है, मरने के समय भी दुःख होता है। और जीवन का शेष काल तो दुःख के संभावनाओं के बीच से गुजरता है ही। सब कोई दुःख की ज्वाला में जल रहे हैं। अन्तर इतना ही है कि कोई दुःख की ज्वाला की भट्टी के बीच पड़कर भुन रहा है और कोई (तथाकथित सुख भोगने वाला) किनारे के निकट पक रहा है।

शोपेनहावर ने कहा कि जीवन तो बुरा है ही, इससे चिपटे रहने की इच्छा इससे भी बुरी है। उसने तो जीवन से छुटकारा पाने के लिए आत्महत्या तक करने का संदेश दिया है। उसका कहना था कि दो आत्महत्याओं के बीच जितना समय गुजरता है उतने में सहस्रों की वृद्धि हो जाती है। इसलिए शोपेनहावर संतानोत्पत्ति को भी बुरा मानता था।

नित्से भी शोपेनहावर के निराशावादी दर्शन से बड़ा प्रभावित हुआ और उसके स्वर में अपने चिंतन का स्वर भी मिला दिया। किन्तु नित्से को जीवन के कुछ वर्षों के बाद ही आशा की झलक दिखई दी। वह २५ वर्षों की अवस्था में ही एक विश्वविद्यालय में प्राध्यापक नियुक्त किया गया और इसी कारण उसने अपना निराशावादी विचार छोड़ दिया। बाद के दिनों में नित्से का विचार था कि यह संसार हमारी श्रद्धा का पात्र है। हमें मृत्यु के लिए नहीं जीवन के लिए प्रयत्न करना चाहिए और निराशावादी नहीं अपितु आशावादी बनना चाहिये।

भारतीय दर्शन में निराशावाद— भारतीय चिन्तन धारा में भी संसार को दुःखमय माना गया है। यह दूसरी बात है कि संसार को दुःखमय मान लेने मात्र से कोई भी विचार-धारा निराशावाद की संज्ञा नहीं पा सकती है। किन्तु कुछ विद्वानों ने, जिनमें प्रायः पाश्चात्य विद्वानों के नाम ही उल्लेखनीय हैं, भारतीय दर्शन को निराशावादी दर्शन की संज्ञा दी है। उन विद्वानों में लार्ड रोन्ल्डशे (Lord Ronald Shay), उर्कुहार्ट (Urquhart) आदि प्रमुख हैं। इन लोगों ने भारतीय दर्शन की निराशावादी प्रवृत्तियों को अनेक प्रमाणों के सहारे सिद्ध किया है। पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय दर्शन की निराशावादी प्रवृत्ति का प्रथम प्रमाण देते हुए बताया कि भारतीय दर्शन में स्वर्ग के संबंध में तो काफी चर्चाएँ हुई हैं और उसका चित्र भी

खींचा गया है किन्तु नरक की विवेचना नहीं हुई है। इसका कारण यह है कि पुराने हिन्दू इस दुनियाँ को ही नरक के रूप में देखते थे; किसी अन्य नरक की कल्पना काहे को करते? शोषेनहावर का भी भारतीय दर्शन के प्रति यही विचार था। उसने अपने विचार की पुष्टि बुद्ध और उपनिषदों की विचार-धारा में पायी। यही कारण था कि वह बुद्ध की तस्वीर हमेशा अपने कमरे में रखता था। वह उपनिषदों का भक्त इसलिए था कि उपनिषदों में भी उसे निराशावाद का समर्थन मिलता था।

समस्त भारतीय चिन्तनधारा में दुःख को संसार की मूल विशेषता के रूप में स्वीकार किया गया है। सभी दर्शनों ने इस संसार के सुख, आनन्द को क्षणिक बतलाया और परलोक के आनन्द को शिवा दी है। प्रायः सभी दार्शनिक शाखाओं ने परमानन्द की प्राप्ति के लिए इस जीवन के सुख-भोग से छुटकारा पाने का संदेश दिया है। बुद्ध ने कहा 'सर्वे दुःखं दुःखम्', 'सर्वे क्षणिकं क्षणिकम्'। भर्तृहरि ने 'शरीरं व्याधि मन्दिरम्' कहकर शरीर की उपेक्षा या शरीर के प्रति मोह के निराकरण की बोधणा को है। सांख्य दर्शन ने भी आत्मिक, देविक एवं भौतिक तीन प्रकार के दुःखों की बात बतायी है।

वेदान्त दर्शन ने संसार तथा संसार की सारी वस्तुओं को मिथ्या करार दिया है। वेदान्त दर्शन का महावाक्य है—'ब्रह्म सत्यं, जगन्मिथ्या।' पुनः इस संसार में मिलने वाले आनन्द को भारतीय दर्शन ने आनन्द की प्रतीतिमात्र कह कर उसका निषेध कर दिया है। चूँकि इस जगत् में कोई भी ऐसा आनन्द नहीं है जिसका शुद्ध स्वरूप हो, अर्थात् सुख-दुःख एक साथ चलते हैं, अतः ऐसा आनन्द वास्तव में दुःख ही है। इस आनन्द से सन्तोष की पूर्णता प्राप्त नहीं होती है और पुनः हम इसकी प्राप्ति के लिए प्रयास करते हैं और हम मात्रा में अपनी चाह की वस्तुओं को चाहते हैं, उनकी प्राप्ति नहीं होने पर हमें अत्यन्त ही दुःख होता है।

इतना ही नहीं, भारतीय दर्शन में यह बताया गया है कि इस संसार के सुख-भोग से आसक्ति पैदा होती है, जिसके फलस्वरूप हम कर्म करते हैं और कर्म का फल तो अवश्यम्भावी ही है। अतः कर्म फल पाने के लिए हमें बार बार जन्म लेना पड़ता है और मृत्यु की गोद में जाना पड़ता है। 'जन्म-मरण' पीड़ा की आत्यन्तिक सीमा है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने लिखा है—'जन्मत मरत दुसह दुख होई।'।

भारतीय दर्शन में परमानन्द की बात कही गई है। उपनिषदों ने जिस परमानन्द की शिवा दी है वह कोरी कल्पना को वस्तु है। इसलिए उर्कुहर्ट ने अपनी पुस्तक 'उपनिषद् और जीवन' में लिखा है—“यदि यह मान भी लिया जाय कि उपनिषद् आनन्द के सिद्धान्त का उपदेश देते हैं तो भी भारतीय का आनन्द एक चीज है और ईसाई का दूसरी, पहला नास्तिवाचक है और दूसरा अस्तिवाचक।”^२

संक्षेप में भारतीय दर्शन संसार की व्यवस्था के प्रति असन्तोष प्रकट करता है। यह मानता है कि जन्म भी दुःखमय है, विनाश भी दुःखमय है, रोग भी दुःखमय है, मृत्यु भी दुःखदायक वस्तुओं का संयोग भी दुःखद है और सुखदायक वस्तुओं से वियोग भी दुःखद है।

इस प्रकार किसी भी परिस्थिति में सांसारिक व्यवस्था से हमें आनन्द नहीं मिल सकता है। भारतीय दर्शन ने दुःख को इस विश्व का चरम सत्य माना है।^३ इसलिए भारतीय दर्शन की प्रायः समस्त शाखाएँ निराशावाद का प्रतिपादन करती हैं।

भारतीय दर्शन का लक्ष्य और दुःखवादः—पाश्चात्य दार्शनिकों ने निराशावाद का जो आक्षेप भारतीय दर्शन पर लाया है वह बिल्कुल निराधार नहीं है। सभी भारतीय दार्शनिक शाखाओं में हम निराशावादी प्रवृत्ति की झलक पाते हैं। वेद से लेकर वेदान्त तक, और स्वामी विवेकानन्द से विनोबा तक का इतिहास यह बतलाता है कि हम संसार के तथाकथित सुखों को सुख नहीं मानते। त्याग में ही सच्चा सुख है। परमानन्द की प्राप्ति के लिए या सच्चे आनन्द की प्राप्ति के लिए इन तथाकथित विषय-वासनाओं के सुखों को त्यागना होगा।

भारतीय विचारकों के अनुसार दर्शन-विद्या की उत्पत्ति का प्रयोजन ही है—‘दुःख सामान्य (अशेष दुःख) के प्रति असंतोष का भावना और सुख सामान्य (अशेष सुख) की प्राप्ति।’

बौद्ध दर्शन के जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण की व्याख्या करते हुए ओल्डेन बर्ग (oldenberg) लिखते हैं—“सृष्टि के आरम्भ से आँसुओं का जितना जल प्लावित हुआ है उसकी तुलना में सब सागरों का पानी भी कम है।”^४ लेकिन बुद्ध ने दुःख से छुटकारा और उसका मार्ग भी बताया है। भगवान बुद्ध के चार आर्य सत्य—‘दुःख है, दुःख का कारण है, दुःख से छुटकारा है और दुःख से छुटकारा पाने के उपाय हैं’ स्पष्टतः सिद्ध करते हैं कि बौद्ध दर्शन का लक्ष्य दुःखों से मुक्ति दिलाना था। इसलिए उन्होंने दुःख को, जो संसार का एक सत्य है, स्वीकार किया है।

इसी प्रकार सांख्य-योग आदि दर्शनों ने भी दुःख को इसलिए माना कि दुःख को नहीं मानना सत्य से दूर रहना था। सत्य यही है कि जीवन में दुःख है। किन्तु इन दुःखों से छुटकारा भी मनुष्य के लिए असाध्य नहीं है। सांख्य ने स्पष्ट घोषणा की है कि मानव को तीनों प्रकार के दुःखों से मुक्ति दिलाना ही उसका लक्ष्य है।

निष्कर्षतः पाश्चात्य विचारकों की तरह यहाँ दर्शन की उत्पत्ति आश्चर्य या जिज्ञासा से नहीं मानी गयी है। भारत में दर्शन की उत्पत्ति मानव के दुःखों की निवृत्ति के लिए हुई है। दुःख जीवन की एक गहन गवेषणा है जो आध्यात्मिक चिंतन का विषय है। ‘मातिक वस्तुओं की हर तरह से परीक्षा किये जाने के बाद ही जीवन में इस प्रकार के चिंतन का उदय होता है। ये भोग, ये बन्धन—सभी दुःखमय हैं और जीवन के घातक शत्रु हैं। इनके प्रति असंतोष, अनास्था, उदासीनता, निराशा और इनकी निवृत्ति के लिए इच्छा, चेष्टा करना ही भारतीय दर्शन के दुःखवाद का अभिप्राय है। यहाँ दुःख से जिस दर्शन का प्रारम्भ होता है उसके सहारे अज्ञानजन्य तृष्णाओं, उद्वेगों, विपाकों लिप्साओं पर विजय प्राप्त करके ऐसे श्रेय, कल्याण, हित, सत्य, तथ्य को पाया जा सकता है जिसमें अनन्त आनन्द तथा अनन्त शान्ति का आवास है। यही अनन्त आनन्द और अनन्त शान्ति भारतीय दर्शन के दुःखवाद का अंतिम लक्ष्य है, जैसा कि चैते ने भी कहा—“भारतीय दर्शन की उत्पत्ति यकान-

औदासीन्य से होती है और यह शाश्वत विश्राम की कामना करता है।”^५

निराशावाद का आरोप भ्रामकः—

यों तो ‘निराशावाद’ प्रत्यय ही भ्रामक है। दुनियाँ का कोई भी विचारक इस जगत्-जीवन को पूर्णरूपेण दुःखमय मानकर जीवन खोना नहीं चाहता। शोपेनहावर भी, जो निराशावाद का आत्यन्तिक रूप प्रस्तुत करता है, जो जीवन और जगत् से छुटकारा पाने के लिए आत्म-हत्या तक करने का विचार देता है, वास्तव में जीवन को प्यार करता था। शोपेनहावर ने भी अज्ञानी मनुष्यों के जीवन को, और उन्हीं के लिए जगत् को, दुःखमय बताया है। डा० दीवानचन्द लिखते हैं—“वह (शोपेनहावर) कहता था कि जीवन की कीमत नहीं। संभवतः यह धारणा साधारण मनुष्यों के सम्बन्ध में थी; आप तो वह सोते समय तकिये के नीचे पिस्तोल रख लेता था और नाई के उस्तरे को उसने कभी गर्दन के निकट पहुँचने नहीं दिया”।^६ अतः निरपेक्ष रूप से कोई भी विचारक निराशावादी विचार नहीं माना जा सकता है। किन्तु अगर शोपेनहावर की विचारधारा को निराशावादी विचारधारा की कसौटी मान भी लिया जाय तो भी भारतीय दर्शन निराशावादी कदापि नहीं कहा जा सकता है।

प्रथमतः भारतीय दर्शन दुःख को अपनी समस्या मानकर उस से मुक्ति के लिए समाधान खोजता है। यह हमें बताता है कि संसार में अनेक दुःख हैं, किन्तु दुःख का भी कारण है। अगर हम उन कारणों को दूर कर दें तो हम दुःखों से मुक्ति पा सकते हैं। अतः भारतीय दर्शन में दुःख या निराशा की भूलक क्षणिक है, “भारतीय दर्शनों में निराशावाद केवल प्रारम्भिक है, किन्तु अन्ततः ये आशावादी ही हैं।”^७ डा० देवराज ने लिखा है “भारतीय दर्शन का दुःखवाद उस वियोगिनी के आँसूओं की तरह है जिसे अपने प्रियतम के आने का दृढ़ विश्वास है, परन्तु वियोग की अवधि निश्चित रूप से नहीं जानती। यही नहीं, भारत की दार्शनिक वियोगिनी यह भी जानती है कि वह अपने प्रयत्नों से धीरे-धीरे वियोग की घड़ियों को कम कर सकती है।”^८ निष्कर्ष यह कि भारतीय दर्शन में दीख पड़ने वाली प्रारम्भिक निराशावादी प्रवृत्ति न तो हमें जीवन से पलायन सिखाती है, न जीवन के कर्त्तव्यों से भागने की ही दीक्षा देती है, अपितु वह कर्त्तव्याकर्त्तव्य की छोटी सीमा से ऊपर उठाती है और शुद्ध ज्ञान और शुद्ध कर्त्तव्य (निष्काम कर्म) को जीवन के सच्चे संबल के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत करती है। जैसाकि डा० सुरेन्द्र नाथ दास गुप्त ने लिखा है—“यहां जीवन के दायित्वों से पलायन की प्रवृत्ति कदापि नहीं थी, प्रत्युत उन्हें समझ कर तथा उनके उचित निर्वहन द्वारा उनसे ऊपर उठने की थी।”

भारतीय दर्शन की सभी शाखाओं ने मोक्ष को ही अपना आदर्श माना है। जिस प्रकार सभी भारतीय दार्शनिकों ने इस संसार को दुःखमय माना है उसी प्रकार सभी ने दुःखों से मुक्ति को अपना लक्ष्य भी माना है। यह सत्य है कि विचार भेद के कारण मोक्ष की अनेक रूपों में कल्पना की गई है, किन्तु सब ने सामान्य रूप से दुःखों के अंत को मोक्ष माना है। वेदान्त दर्शन में तो मोक्ष का विचार और भी व्यापक हो गया है। वेदान्त दर्शन में मोक्ष का अर्थ दुःख का अंत ही नहीं है अपितु अनन्त आनन्द भी है। पुनः, भारतीय दर्शन केवल

वैयक्तिक मोक्ष को जीवन का आदर्श नहीं मानता। वह तो व्यक्ति के साथ-साथ समाज की मुक्ति में विश्वास करता है। भारतीय दार्शनिकों ने सदा मोक्ष पाने पर संसार को मुक्ति के संदेश मात्र ही नहीं दिये हैं, कर्म भी किये हैं। यह सत्य है कि उनका कर्म निष्काम कर्म था। भारतीय ऋषियों ने बार-बार अपनी आकांक्षा व्यक्त करते हुए कहा है—

न त्वंह कामये राज्यं, न स्वर्गं न पुनर्भवम्।

कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ॥१०

ऐसे दर्शन और दार्शनिक जो अपने ही नहीं, प्राणिमात्र के दुःखों की मुक्ति की आकांक्षा करते हैं, निराशावादी कैसे कहे जा सकते हैं ?

भारतीय दर्शन यथार्थवादी है। इसी कारण इसने संसार की वास्तविकता से अपने को दूर नहीं रखा अपितु स्वयं संसार की वास्तविकता में प्रवेश कर मनुष्य को उस वास्तविकता से परिचित कराया। संसार की वास्तविकता क्या है ? संसार की सबसे बड़ी वास्तविकता है—दुःख। “दुःख जीवन-प्रक्रिया का आत्यन्तिक सत्य है।”^{११} इसीलिए तो मैक्समूलर ने भारतीय दर्शन को निराशावाद और आशावाद के बीच का ‘वस्तुस्थितिवाद’ या ‘भाववाद’ कहा है। संसार में दुःखों के अस्तित्व को स्वीकार कर भारतीय दर्शन ने सत्य को कबूल किया। सत्य ‘सत्’ शब्द का पर्यायवाची है। यहाँ ‘सत्य’ सत्ता और पूर्णता दोनों का प्रतीक है। यहाँ सत्ता और पूर्णता एक साथ चलती हैं। सत्य और शिव का भारतीय दर्शन में तादात्म्य है, अतः सत्य कभी भी निराशा या अशुभ को प्रश्रय नहीं दे सकता। डा० सर्व-पल्लो राधाकृष्णन् के अनुसार— “यथार्थ ही सर्वोच्च मूल्य भी है, और यह सभी आशावादी विचारधाराओं का आधार है।”^{१२} इस तरह यथार्थ को कबूल कर भारतीय दर्शन ने सत्य के साथ साथ आशावाद को भी प्रश्रय दिया है। अगर पाश्चात्य विद्वानों की नजर में वस्तु-स्थिति को कबूल करने मात्र से भारतीय दर्शन निराशावादी हो गया है, अगर वस्तुवाद ही निराशावाद का पर्याय है, तो भारतीय दर्शन सहर्ष निराशावादी संज्ञा पाने के लिए तैयार है। किन्तु तब तो संसार के सभी दर्शनों को निराशावादी कहना चाहिए, क्योंकि सभी दर्शनों ने वस्तु-स्थिति या यथार्थ को कबूल करने में ही अपनी कद्र समझी है। डा० राधाकृष्णन् ने निराशावाद के इस आरोप को भ्रामक स्वीकार किया है।^{१३}

आशावाद निराशावाद के कांड में पलता है। उनिषद् ने ‘नाल्पे सुखमस्ति’ कह कर यह बतलाने का प्रयास किया है कि मनुष्य को अल्प में सुख नहीं है। अगर मनुष्य अल्प ज्ञान में संतोष प्राप्त कर ले, अल्प सांसारिक सुख में चैन से जीने लगे, उससे आगे बढ़कर शुद्ध आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए साधना नहीं करे, ब्रह्मानन्द की प्राप्ति के लिए इन लुप्त सांसारिक विषय-वासनाओं से दूर नहीं रह सके तो वह मनुष्य क्या है ? मनुष्य और पशु में यह एक महान् अन्तर है कि पशु को जो मिल जाता है उसी में संतोष करता या उसी प्रकार की चीजों के लिए पुनः जोर लगाता है, उसके पास बुद्धि नहीं है कि वह सोच सके कि वर्तमान वस्तु से श्रेष्ठतर पदार्थ भी संभव है। किन्तु मनुष्य अपनी बुद्धि के सहारे सोचता है कि अधिक आनन्ददायक वस्तु कौन है ? वर्तमान की वस्तुओं से श्रेष्ठतर वस्तु संभव है या नहीं और

उसकी प्राप्ति कैसे संभव है ? इस प्रकार वह प्रेय और श्रेय का विवेचन करता है और प्रेय को छोड़कर श्रेय की प्राप्ति के लिए प्रयास करता है। अतः वर्तमान के प्रति असंतोष से निराशात्मय प्रक्रिया का श्रीगणेश अवश्य होता है, किन्तु इस प्रक्रिया से आशावाद का मधुर फल प्राप्त होता है। प्रोफेसर बोसांके लिखते हैं—“मैं आशावाद में विश्वास करता हूँ; परन्तु मैं साथ ही कहता हूँ कि कोई भी आशावाद तब तक उपयोगी नहीं है जबतक वह निराशावाद के साथ चलकर उससे परे न पहुँचे। मेरा विश्वास है कि यही जीवन की वास्तविक प्रेरणा है, और यदि कोई उसको खतरनाक और पाप के प्रति अनुचित आत्मसमर्पण समझता है तब मेरा उत्तर है कि पूर्णता का पुट लिए हुए प्रत्येक सत्य के व्यवहार में अपने खतरे हैं।”^{१३} यह सत्य है कि भारतीय दर्शन संसार के वस्तुतथ्य दुःख को कबूल करता है। और इसी कारण उसकी निराशावादी प्रक्रिया है। किन्तु वह मात्र दुःखों को कबूल कर बैठ नहीं जाता है, इसका सही समाधान केवल विचार में ही नहीं, व्यवहार में भी देता है। बुद्ध का अष्टांगिक मार्ग, जैन और हिन्दू दर्शन का त्रिरत्न और पतञ्जलि का अष्टांगिक योग-मोक्ष के व्यावहारिक साधन प्रस्तुत करते हैं। इन मार्गों के अवलम्बन से मनुष्य नाना प्रकार के मानसिक एवं भौतिक क्लेशों से मुक्त होकर आधिदैविक क्लेशों से परे हो जाता है। संक्षेप में भारतीय दार्शनिकों को सीमा और बन्धन पसन्द नहीं है। असीम वायुमंडल, जो अनन्त है, उसी में विचरण करना उन्हें पसन्द है। ऐहिक सम्पत्ति उन्हें कभी भी पूर्ण तथा संतुष्ट नहीं कर सकी। फलतः उन्होंने अनन्त सुख रूप मोक्षावस्था की कल्पना की और उसकी प्राप्ति के लिए साधना को जीवन का लक्ष्य घोषित किया। डॉ० राधाकृष्णन् ने लिखा है—“भारतीय दार्शनिक केवल इस सीमा तक ही निराशावादी हैं जबकि वे विश्व रचना में कलुष और मिथ्यात्व को देखते हैं, किन्तु वे इस दृष्टि से आशावादी हैं कि इस कलुष से सत्य में, जोकि शिव भी है, मुक्ति संभव मानते हैं।”^{१४} इस तरह अगर भारतीय दर्शन संसार के उस वस्तुतथ्य दुःख को हमारे समक्ष रखता है, जिसके शिकार हम अपनी लुप्त बुद्धि के कारण होते हैं, तो वह हमारे लिए आशा का सन्देश भी देता है जिसके सहारे हम दुःखों से मुक्ति पा सकते हैं।

भारतीय दर्शन में जीवन की प्रतिष्ठा की गयी है। यह हमेशा अधिक से अधिक लम्बे जीवन के लिए नियम-संयम आदि का मार्ग बताता है। भारतीय ऋषियों ने आशीष के रूप में सदा ‘चिरंजीवी भव’ का ही स्वर उच्चरित किया है। प्राचीन संस्कृत साहित्य में ऐसा वर्णन मिलता है जिसके आधार पर १०० वर्षों तक जीने की मानवीय आकांक्षा का पता लगता है। यहां जीवन को चार आश्रमों में बाँटकर उनके कर्म निर्धारित कर दिये गये हैं। मनुष्य जीवन के प्रारम्भिक २५ वर्षों का काल विद्यार्जन, दूसरे २५ वर्षों के बाद ५० वर्षों की अवस्था तक गार्हस्थ्य, तीसरे ५० वर्षों से ७५ वर्षों तक की अवस्था वानप्रस्थ और ७५ वर्षों से १०० वर्षों तक के मध्य की चौथी अवस्था संन्यास की अवस्था मानी गई है। चारों अवस्थाओं में मनुष्य को अपने कर्त्तव्यों के पालन के लिए अपने को कर्ममय एवं निष्काम बनाना पड़ता है। इसीलिए जीवन को समाप्त करने वालों को पापी माना गया है। अगर कोई व्यक्ति

किसी दूसरे के जीवन को समाप्त कर देता है तब तो वह महापाप का भागी है ही, अगर मनुष्य अपना जीवन स्वयं भी समाप्त करता है तो भी उसे महापाप का भागी बनना पड़ता है। इस तरह भारतीय दर्शन में आत्महत्या को वर्जित कर जीवन की आत्यन्तिक प्रतिष्ठा कायम की गई है। अतः जीवन को प्रतिष्ठित तथा आत्महत्या को वर्जित मानने वाले भारतीय दर्शन को निराशावादी या जीवन से पलायनवादी कहना सिर्फ असंगत ही नहीं इसके प्रति घोर अन्याय भी है।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि सभी भारतीय दार्शनिक प्रबल कर्मयोगी थे। उनका जीवन निष्काम कर्मयोग का अद्वितीय उदाहरण रहा है। उनके जीवन का आदर्श स्वर्ग की प्राप्ति नहीं था अपितु प्राणिमात्र की सेवा करना ही उनके जीवन का पावन लक्ष्य रहा है। भारतीय दर्शन का आदर्श है—

सर्वेष्ट सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः ।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःख भाग भवेत् ॥

भगवान् बुद्ध का निर्वाण प्राप्ति के पश्चात् का सारा जीवन मानव कल्याण का जीवन है। 'बहुजनहिताय, बहुजन सुखाय' ही उनके जीवन का लक्ष्य था। बहुजन के हित के लिए, उन्हें दुःखों से मुक्ति दिलाने के लिए ही बुद्ध ने अपने सारे सुख भागों को ठुकरा दिया और कठिन साधना की। भगवान् बुद्ध ने ज्ञान प्राप्ति के बाद आजीवन सारे देश में घूम घूम कर अपना संदेश दिया। उसी प्रकार जगद्गुरु शंकराचार्य ने भी अपने सारे जीवन को मानव कल्याण के लिए होम कर दिया। महात्मा महावीर का जीवन भी त्याग और कर्म का जीवन रहा है। मध्य युग में संत तुकाराम, कबीर, नानक आदि ने तथा आधुनिक युग में स्वामी विवेकानन्द, टैगोर, अरविन्द, गाँधी तथा विनोबा ने अपने सारे जीवन को मानव-कल्याण के लिए कर्म यज्ञ के हवन-कुंड में होम कर दिया है। यहाँ एक शंका उठायी जा सकती है कि जब कर्म से ही मनुष्य बंधन में फँसता है, तो फिर घोर कर्मों में रत रहने वाले ये भारतीय दार्शनिक मुक्त कैसे हो सके और मुक्ति का संदेश कैसे कर्म के द्वारा दिया? वस्तुतः भारतीय दर्शन ने सभी प्रकार के कर्मों को बंधन का कारण नहीं माना है। वे कर्म, जो स्वार्थ के लिए या फल की वासना से किये जाते हैं, ही बंधन के कारण हैं। किन्तु जो कर्म फल की आसक्ति के बिना ही किये जाते हैं, जिनमें मानव कल्याण की भावना छिपी है, जो अपना कर्तव्य समझ कर मात्र कर्तव्य के लिए किये जाते हैं, उन्हें बंधन का कारण नहीं माना जाता। बल्कि वैसे ही कर्मों के द्वारा मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है। ऐसे ही कर्मों की संज्ञा 'निष्काम कर्म' गीता में दी गई है। गीता निष्काम कर्म की परिभाषा करते हुए कहती है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।

ऐसे निष्काम कर्मयोगी दार्शनिकों के चिंतन में निराशावादी विचार कैसे स्थान पा सकता है? वास्तविकता तो यह है कि कर्मयोगी भारतीय दार्शनिकों ने निष्काम कर्मयोग का संदेश देकर

जीवन में आशा का दीप जलाया है।

भारतीय दर्शन में व्यक्ति को ही अपने भाग्य का निर्माता माना गया है। यह सत्य है कि भारतीय दर्शन प्रमुखतः ईश्वरवादी दर्शन है। चार्वाक, बौद्ध और जैन दर्शन को छोड़कर प्रायः सभी दर्शनों ने ईश्वर के अस्तित्व को कबूल किया है। फिर भी व्यक्ति के संकल्प-स्वातन्त्र्य को किसी न किसी रूप में सभी दर्शनों ने माना है। गीता में भगवान् भी कृष्ण अर्जुन को सारी बातें लोक-परलोक, आत्मा-परमात्मा, पाप-पुण्य, करणीय और अकरणीय बता डालते हैं, किन्तु अन्त में कहते हैं—‘यथेच्छसि तथा कुरु’—अर्थात् तुम जैसा चाहो, करो। ऋग्वेद ने भी ‘न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः’ कहकर व्यक्ति के संकल्प स्वातन्त्र्य को स्वीकार किया है। इसका अभिप्राय यह है कि बिना परिश्रम के देव भी सहायक नहीं होते हैं। योगवासिष्ठ में भी स्पष्ट लिखा है कि जब मनुष्य मौन है और कर्म करने में स्वतन्त्र नहीं है तब शास्त्र के उपदेश से ही क्या? जब सब देव के ही हाथ में है तब कौन किसे उपदेश दे सकता है?

किंवा शास्त्रोपदेशेन मूकोऽयं पुरुषः किल।

संचार्यते तु दैवेन किं कस्येहोपदिश्यते ॥१८॥

गीता ने तो इसीलिए स्पष्ट कर दिया है कि ‘मनुष्य को चाहिये कि अपने द्वारा ही अपना उद्धार करे और अपनी आत्मा को अधोगति में न पहुँचावे, क्योंकि यह जीवात्मा आप ही अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु—

‘उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः। (अ. ६, श्लोक ५)। १९

इस तरह स्पष्ट है कि जो दर्शन मनुष्य को ही अपने भाग्यविधाता के रूप में मानता है वह निराशावादी कैसे हो सकता है?

वेदान्त दर्शन में जीव को ही ब्रह्म माना गया है। इस संसार में हमें जो कुछ भासता है सब में ब्रह्म ही अभिव्यक्त हो रहा है। उपनिषद् का स्पष्ट स्वर है—आत्मा ही ब्रह्म है अहं ब्रह्मास्मि। शंकराचार्य ने इसका समर्थन किया है। जैसा कि ‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म’ से भी स्पष्ट है। तात्पर्य यह है कि जब आत्मा ही ब्रह्म है, जब प्रत्येक वस्तु में ब्रह्म की अभिव्यक्ति हो रही है, तो उन वस्तुओं से दुःख क्यों मिलेगा? हाँ उनके दुरुपयोग से दुःख भले ही संभव है। अगर उनका सदुपयोग किया जाय तो आनन्द ही आनन्द है। जब जीव ही ब्रह्म है तो वह आनन्द का भी स्वामी है। अतः भारतीय दर्शन परमानन्द का उद्घोष करता है, निराशा का नहीं।

सुख को ही जीवन का परम मूल्य मानने वाले महर्षि चार्वाक भी भारतीय दार्शनिक ही हैं, जिन्होंने स्पष्ट स्वर में कहा है कि इस जीवन में जितना सुख-भोग कर सको, करो। क्योंकि इसके बाद तुम्हारा यह भस्मीभूत शरीर नष्ट हो जायेगा। जिन लोगों ने इस संसार के सुख को, आत्यन्तिक और शाश्वत सुख नहीं रहने के कारण, अस्वीकार कर दिया है चार्वाक की नज़र में वे मूर्ख हैं। चार्वाक का कहना है, सुख-दुःख साथ-साथ चलते ही हैं।

हमारा कर्तव्य है कि हम वैसे सुखों का उपभोग करें जिनमें दुःख की अपेक्षा सुख की मात्रा अधिक हो। चार्वाक ने बताया कि क्या काँटों के डर से हम मछली खाना छोड़ देंगे और क्या चिड़ियों के डर से हम घान उपजाना छोड़ देंगे? कदापि नहीं। हम बड़े सुख के लिए थोड़ी तकलीफ भी उठा लेंगे। जो लोग तकलीफ रहित सुख की कल्पना में हैं वे मात्र कल्पना में ही रह जायेंगे। हमें तो जबतक जीना है सुख से जीना है और अगर साधन की कमी हो तो कर्ज लेकर भी घी पीना है।—

“यावत् जीवेत् सुखं जीवेत् शृणुं कृत्वा घृतं पिवेत्।

भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥” २०

इससे अधिक आशावादी दर्शन और कौन हो सकता है? क्या पाश्चात्य आलोचकों को चार्वाक भारतीय दार्शनिक के रूप में स्वीकार नहीं थे?

सच तो यह है कि चार्वाक दर्शन ने जिस आशा का संदेश दिया, उसकी अपेक्षा अधिक आशा तथा आनन्द का संदेश अन्य भारतीय दार्शनिकों ने दिया है। चार्वाक का आशावाद केवल इसी लोक तक केन्द्रित है, जबकि अन्य भारतीय दार्शनिकों ने इहलोक और परलोक दोनों के लिए आशा की ज्योति जलायी है। इसीलिए तो निष्पन्न विचारकों की दृष्टि में तथाकथित सस्ते आशावाद की तुलना में तथाकथित निराशावाद (जो वास्तव में आशावाद ही है) ही श्रेयस्कर है। जॉर्ज हर्बर्ट पामर (George Herbert Palmer) लिखते हैं—“आशावाद निराशावाद की अपेक्षा अधिक अनैतिक प्रतीत होता है, क्योंकि निराशावाद हमें खतरे की चेतावनी देता है जबकि आशावाद सुरक्षितता की मिथ्या प्रतीति में हमें भुलाये रहता है।” २१

दर्शन और साहित्य में परस्पर निर्भरता का संबंध है। दर्शन साहित्य की आँख माना जाता है। पुनः साहित्य द्वारा दर्शन के कठिन सिद्धान्तों की व्याख्या कहानी, कविता, निबंध, उपन्यास आदि के माध्यम से की जाती है। इसीलिए तत्कालीन युग का दर्शन उस युग के साहित्य से तथा साहित्य उस युग के दर्शन से प्रभावित रहा है। भारतीय दर्शन और साहित्य भी इसका अपवाद नहीं है क्योंकि प्राचीन भारतीय संस्कृत साहित्य में हम आशावाद की स्पष्ट झलक पाते हैं। कोई भी संस्कृत नाटक या कहानी ऐसी नहीं मिलती जिसका अन्त दुःखात्मक हो। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय दर्शन भी निश्चय ही आशावादी है।

भारतीय दर्शन मनुष्य की आत्मा में ही मोक्ष के स्वरूप को निहित मानता है। हमारा काम केवल मोक्ष स्वरूप आत्मा की ज्योति को अभिव्यक्त करना है। यही परम पुरुषार्थ है। तैत्तिरीय उपनिषद् कहता है—“कौन जीवित रह सकता यदि आकाश (ब्रह्म) आनन्द स्वरूप नहीं होता? आनन्द से ही भूत वर्ग उत्पन्न होते हैं, आनन्द से ही जीवित रहते हैं और आनन्द में ही प्रविष्ट तथा लय होते हैं।”

भारतीय दर्शन आत्मा की अमरता में विश्वास करता है और कहता है कि हमारे वे कर्म, जिनके फल इस जन्म में प्राप्त नहीं हो सके हैं, भविष्य जन्म में अवश्य प्राप्त होंगे। जिन्हें इस जीवन में संकट का सामना करना पड़ा है उनका जीवन भी भविष्य के आनन्द की

आशा में आनन्दमय ही व्यतीत होता है। दुःखी जन भी भविष्य की आशा में मानव-कल्याण के कार्य करते नजर आते हैं। इससे अधिक आशावाद का उदाहरण क्या हो सकता है ? उपनिषद् ने स्पष्ट स्वर में हमें जगाया है और कहा है कि सजनों से, ज्ञानियों से सीखो, क्योंकि आत्म-सिद्धि का मार्ग लुप्री की धारा के समान दुर्गम है। कठोपनिषद् कहता है—

“उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत।

क्षुरस्य धारा निशिता दुरन्यता दुर्गे पथस्तत् कवयो वदन्ति ॥” २३

इस प्रकार जागरण और कर्म का संदेश देने वाला भारतीय दर्शन निराशावादी कैसे हो सकता है ? उपनिषद् की आशावादी विचारधारा ने तो निराशावादी शोपेनहावर के जीवन में भी आशा का दीपक जलाया था। शोपेनहावर ने स्वयं उपनिषदों के बारे में लिखा है— ‘वे मेरे जीवन के लिये सान्त्वना की स्रोत रही हैं और मेरी कामना है कि वे मेरी मृत्यु में भी सान्त्वना की स्रोत बनें।’

निष्कर्ष:—

भारतीय दर्शन में दुःखवाद की जो छुआ दीख पड़ती है वह भारतीय चरित्र की दो विशेषताओं का फल है। “भारत के निवासी सहृदय और कोमल वृत्ति वाले हैं। कोमलता, मधुरता और सौन्दर्य-प्रियता भारतीय काव्य के विशेष गुण हैं। भारतीय दार्शनिक का हृदय भी कवि हृदय है, वह दुःख को देखकर शीघ्र-प्रभावित हो जाता है। भारत के दार्शनिक कुरुणामय ऋषि थे, जो बुद्धि के व्यायाम के लिए नहीं वरन् लोक-कल्याण के लिए दार्शनिक चिन्तन करते थे। भारतीयों की दूसरी विशेषता अनन्तता की चाह है। ‘जो भूमा है, जो अनन्त है, वही सुख है; अल्प में, ससीम में सुख नहीं है’ यह उपनिषद् के ऋषि का अमर उद्गार है। उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखे बिना भारतीय दर्शन के विरुद्ध निराशावाद का आरोप लगाना अनुचित होगा। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि व्यावहारिक दृष्टिकोण से भारतीय दर्शन को निराशावादी कहा जा सकता है, क्योंकि यह संसार को दुःखमय मानता है। किन्तु पारमार्थिक दृष्टिकोण से इसे आशावादी दर्शन ही कहा जायगा, क्योंकि यह अनन्त, आनन्दमय आदर्श की साधना करता है तथा सांसारिक दुखों का निदान बताकर आशा का संदेश देता है। अतः भारतीय दर्शन का उद्देश्य आशावाद की चरम सीमा तक पहुँच चुका है। इसलिए इसे निराशावादी दर्शन कहना भ्रामक है।

लक्ष्मी नारायण कालेज, भगवानपुर।

❧ डा. सुरेन्द्र नाथ दास गुप्त ने लिखा है—“The sorrow around us has no fear for us if we remember that we are naturally sorrowless and blessed in ourselves. The pessimistic view loses all terror as it closes in absolute optimistic confidence in one's ownself and the ultimate destiny and goal of emancipation.”

REFERENCES

1. Ronald Shay—'India : A Birds eye-View' P. 313.
2. Urquhart—'Upanisads and life' P. 69-70.
3. Dr. S. N. Das Gupta—'A History of Indian Philosophy'. Vol. I, P. 75-76
(Sorrow is the ultimate truth of this process of the world).
4. Cf. Oldenberg—Op. Cit. P. 216-17.
5. Chailley—'Administrative problems' P. 67.
(quoted in 'Indian Philosophy of Dr. S. Radhakrishnan P. 49 F.)
६. डा० दीवान चन्द—'पश्चिमी दर्शन' पृष्ठ १८६ ।
7. Chatterjee and Datta—'An Introduction to Indian Philosophy' P. 14.'
८. डा. देवराज और डा. तिवारी—'भारतीय दर्शन शास्त्र का इतिहास' पृ. २२-२३ ।
9. Dr. S. N. Das Gupta—'A History of Indian Philosophy' P. 76.
11. Dr. S. N. Das Gupta 'A History of Indian Philosophy' P. 75-76.
12. Dr. S. Radhakrishnan—'Indian Philosophy' P. 50.
13. Dr. S. Radhakrishnan—'Indian Philosophy' P. 50.
14. Prof. Bosanquet. 'Social and International P. 43.
(हिन्दी रूपान्तर डा. राम नाथ शर्मा—'भारतीय दर्शन के मूल तत्व' पृ. १० ।
15. Dr. S. Radhakrishnan—'Indian Philosophy' P. 50.
16. " " " " " " " " " " " "
१७. गीता—अध्याय २, श्लोक-४७ ।
१८. योगवासिष्ठ, श्री देवनाथ सहाय—हिन्दू आचार दर्शन, पृष्ठ १ में उद्धृत ।
१९. गीता—अध्याय ६ श्लोक ५ ।
२०. चार्वाक षष्ठी—दक्षिण रंजन शास्त्री ।
21. George Herbert Palmer—'Contemporary American Philosophy—Vol. I.'
P. 51. (quoted in Chatterjee and Datta—'An Introduction to Indian
Philosophy'. P. 14.
22. Dr. S. N. Das Gupta 'A History of Indian Philosophy' P. 77.
२३. कठोपनिषद् ।
24. Chatterjee and Datta 'An Introduction to Indian Philosophy' P. 13-14.

धार्मिक जीवन और श्रद्धा

मधुसूदन प्रसाद

धार्मिक जीवन में श्रद्धा का क्या स्थान हो सकता है—यह निर्धारण करने के पूर्व हमें उन विचारधाराओं का खंडन करना पड़ेगा जिनकी यह धारणा है कि धार्मिक जीवन में श्रद्धा का कोई स्थान ही नहीं है, क्योंकि धर्म और धार्मिक जीवन की कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। इस निबन्ध का उद्देश्य धर्म और धार्मिक जीवन की सत्ता स्थापित करना नहीं है। अतः यहाँ पहले यह दिखाने की चेष्टा की गई है कि उक्त विचारधाराओं द्वारा भी धर्म और धार्मिक जीवन की सत्ता अस्तुत्तु रहती है, तत्पश्चात् धार्मिक जीवन में श्रद्धा का स्थान निर्देश करने का प्रयास किया गया है।

धर्म और धार्मिक जीवन की सत्ता पर आक्षेप प्रधानतः तीन दिशाओं से हुआ है:-

(१) आधुनिक विज्ञान की निरन्तर प्रगति द्वारा (२) आधुनिक मनोविज्ञान के अन्वेषणों द्वारा और (३) स्वयं दर्शन के क्षेत्र में आधुनिक विचारधाराओं द्वारा।

एक जमाना वह था जब हम भूकम्प, बाढ़, सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण, लोक-परलोक आदि बुद्धि को चक्कर में डाल देने वाली समस्याओं के समाधान के लिये धर्म और धर्मगुरुओं की शरण लेते थे। लेकिन आज का युग विज्ञान का युग है। अब इन समस्याओं का समाधान विज्ञान सफलतापूर्वक कर रहा है। कोपरनिकस, गैलिलियां, केप्लर, न्यूटन, लाप्लासे, आईन्स्टीन प्रभृति चोटी के वैज्ञानिकों ने हमें चकित कर दिया है। आधुनिक विज्ञान ने धर्म और धार्मिक मान्यताओं को तीन प्रकार से क्षति पहुँचाई है:- (१) प्रायः सभी घटनाओं की प्राकृतिक व्याख्या कर इसने धार्मिक जीवन के ठोस आधार ईश्वर की ही महत्ता कम कर दी है। आधुनिक विज्ञान ने ईश्वर को अनावश्यक बताया है। एक बार नेपोलियन ने लाप्लासे से पूछा कि “क्या यह सच है कि आपने विश्वव्यवस्था सम्बन्धी एक ऐसी पुस्तक लिखी है जिसमें सृष्टिकर्ता का एक बार भी उल्लेख नहीं किया गया है?” लाप्लासे ने उत्तर दिया— “मुझे वैसी कल्पना की जरूरत ही नहीं पड़ी।” (२) भौतिक घटनाओं की व्याख्या के लिये इन्द्रियों से परे सत्ताओं की कल्पना आधुनिक विज्ञान को मान्य नहीं है। उसका विश्वास है कि सभी घटनाओं की व्याख्या प्राकृतिक नियमों (Natural Laws) द्वारा हो सकती है। कोई घटना स्वाभाविक कारणों द्वारा समझी न जा सके तब भी उसके लिये दैवी कारणों का

मानना उचित नहीं है। विज्ञान का यह दृष्टिकोण धार्मिक सत्ताओं के लिये घातक हुआ है, और (३) अपनी निरन्तर प्रगति द्वारा विज्ञान यह सिद्ध कर रहा है कि विश्व प्रयोजनहीन है, यह यन्त्रवत् है। घटनाओं की व्याख्या उन के कारणों द्वारा होनी चाहिये, न कि उनके प्रयोजन द्वारा। विज्ञान की यह धारणा भी धर्म के लिये अहितकर है।

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि विज्ञान की इन आपत्तियों से क्या धर्म की सत्ता ही मिट जाती है? सरसरी निगाह से देखने पर ऐसा मालूम होता है कि धर्म की नींव हिल गई है, पर वास्तविकता यह नहीं है। विज्ञान का यह निर्देश कि 'घटनाओं की व्याख्या प्राकृतिक नियमों द्वारा ही होना उचित है,' यदि मान भी लिया जाय तो इस प्रश्न का उत्तर देना ही पड़ेगा कि इन प्राकृतिक नियमों का संचालन करनेवाला कौन है? क्योंकि ये नियम स्वयं जड़ हैं इसलिये इनका संचालन किसी चेतन सत्ता, अर्थात् ईश्वर द्वारा ही सम्भव है।

यह भी सत्य है कि विज्ञान की प्रगति से यन्त्रवाद को बल मिला है, लेकिन यन्त्रवाद का विरोध प्रयोजनवाद से नहीं है। दोनों विचार एक साथ ही मान्य हो सकते हैं। जैसे हम कह सकते हैं कि घड़ी के चलने का कारण उसका स्प्रिंग है, और साथ ही हम इसे भी अस्वीकार नहीं कर सकते कि घड़ी का प्रयोजन समय बतलाना है, उसी प्रकार इस विश्व को यन्त्रवत् मानते हुए भी हम यह कह सकते हैं कि विश्व का कोई प्रयोजन अवश्य है।

धर्म पर विज्ञान का आक्रोश इस लिए है कि वैज्ञानिक पद्धति में निरीक्षण को ही ज्ञान का आधार माना जाता है। पर धार्मिक सत्ताओं का इन्द्रियजन्य ज्ञान सम्भव नहीं है, अतः उनकी सत्ता विज्ञान को मान्य नहीं है। यह सत्य है कि विज्ञान के आकर्षण से आज का कोई भी सम्य मानव अछूता नहीं है, लेकिन फिर भी अन्तरतम से वह वैज्ञानिक निष्कर्षों से सन्तुष्ट नहीं है। अन्तर की पुकार उसे धर्म की ओर बरबस ही खींचती है। पॉल रूबिकजेक के शब्दों में, "बहुत से लोग ऐसे हैं जो जीवन का अधिक सुदृढ़ आधार पाने के लिये विफल हैं और यह जानते हैं कि धर्म यह आधार प्रस्तुत कर सकता है, किन्तु वे धर्म से फिर भी दूर रहते हैं क्योंकि वे बौद्धिक रूप से अपने आप को उठाकर अपने सन्देहों को शान्त नहीं कर सकते।"² इस आध्यात्मिक असन्तोष से यह सिद्ध हो जाता है कि वैज्ञानिक पद्धति में कहीं खोटा अवश्य है। यही कारण है कि डार्विन, न्यूटन, आईन्स्टीन आदि वैज्ञानिक भी ईश्वर की सत्ता मानते थे।³

आधुनिक विज्ञान के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए आधुनिक मनोविज्ञान ने भी धर्म के ऊपर आक्षेप किया है। प्रोफेसर ल्यूबा⁴ का कथन है कि मनोवैज्ञानिक नियमों द्वारा ही धर्म के सभी तथ्यों की व्याख्या हो जाती है, अतः इन्द्रियों से परे धार्मिक सत्ताओं को मानने का कोई आवश्यकता नहीं है। फ्रायड ने भी 'दि फ्यूचर आफ एन इल्यूशियन' और 'सिविलीजेशन एन्ड इट्स डिस्कॉन्टेन्ट्स' नामक पुस्तकों में धार्मिक विश्वासों का खंडन किया है। उनका

2 Roubizek, Paul: 'Thinking Towards Religion', P. 9.

3 बेल्जियम के वैज्ञानिक Le Comte du Novy की पुस्तक 'Human Destiny' भी देखें।

4. Leuba T. H.; 'The Psychology of Religious Mysticism.'

विचार है कि धर्म, प्राकृतिक आपदाओं के परिणामस्वरूप होने वाले कष्टोपभोगों एवं सम्बन्ध-जन्य मूलभूत अन्तः प्रवृत्तियों से संभूत अतृप्ति का एक संभावित समाधान है।^५ धर्म एक प्रकार का नशा है, जैसा कि मार्क्स ने भी कहा था। धार्मिक व्यवहार मानव के नैराश्य भावों की प्रतिक्रिया है। निराश मानव पिता जैसा सहारा ढूँढ़ने के प्रयास में ईश्वर की सत्ता में विश्वास करने लगता है। ईश्वर पिता की ही प्रतिमा का विलेप (Projection) है।

धार्मिक विश्वास एवं व्यवहारों का एक कारण अतृप्ति हो सकता है, लेकिन अतृप्ति द्वारा ही सभी धार्मिक विश्वासों की व्याख्या नहीं की जा सकती।^६ फिर, यदि ईश्वर को पिता की प्रतिमा मान लिया जाय तो इस कल्पना के आधार पर वे सभी, जिन्हें पिता का प्यार मिल रहा है, वे अनीश्वरवादी और अधार्मिक होंगे। लेकिन वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। अतः मनो-विज्ञान धार्मिक व्यवहारों को समझने का एक प्रयास मात्र है। धर्म और धार्मिक जीवन का विषय मनोविज्ञान के क्षेत्र से बाहर है।

धर्म के ऊपर आक्रमण दार्शनिक चिन्तन की आधुनिक विचारधाराओं द्वारा भी हुआ है। दर्शन की आधुनिक विचारधारा इस क्षेत्र में भी वैज्ञानिक पद्धति का अवलम्बन करती है। इन्द्रिय जन्य अनुभवों पर आश्रित और संवेदना से प्राप्त तथ्यों का तार्किक विवेचन करता हुआ तार्किक प्रत्यक्षवाद यह बतलाता है कि धार्मिक उक्तियों का प्रमाणीकरण नहीं हो सकता है, अतः वे निरर्थक हैं। विश्लेषणवादी दार्शनिकों का कहना है कि उचित चिन्तन के लिए सही तर्क और स्पष्ट भाषा की नितान्त आवश्यकता है। धर्म-दर्शन का उद्देश्य धार्मिक भाषाओं का विश्लेषण करना है।^७ अन्तरनुभव की महत्ता देते हुए कई अस्तित्व-वादियों ने वैयक्तिक ढंग से धर्म आदि समस्याओं को समझने का निदान किया है।

दर्शन की आधुनिक विचारधाराओं ने एक विशेष पद्धति को ही दर्शन का विषय मान लिया है। पद्धति की शुद्धता, भाषा की स्पष्टता, तर्क का औचित्य दार्शनिक चिन्तन के लिये वांछनीय हैं। किन्तु वैज्ञानिक विधि कभी भी दर्शन के व्यापक क्षेत्र का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती है। यदि कोई डाक्टर किसी रोगी का इलाज करना चाहता है तो यह निश्चय करने के पहले कि उसकी चिकित्सा किस प्रकार हो, उसे विभिन्न रोगों के स्वरूप, कारण एवं विकास पद्धति का ज्ञान आवश्यक है। उसी प्रकार नीति और धर्म के स्वरूप के विषय में जानने का प्रयत्न किये बिना नैतिक तथा धार्मिक उक्तियों का तार्किक विश्लेषण करने का कोई उपयोग नहीं है।^८ दर्शन की महत्ता तभी है जब यह एक ओर तो मानव के लिए विज्ञान की उपयोगिता पर और दूसरी ओर इच्छास्वातन्त्र्य, धार्मिक विश्वासों की महत्ता आदि पर

5. Religion is one possible mode of adaptation to the frustration of the basic instincts due to civilization and to privations resulting from natural catastrophes.

6. Argyle, Michael; 'Religions Behaviour' P. 154.

7. Zuurdeeg, Willem; 'An Analytical Philosophy of Religion' P. 14.

8. Roubiczek Paul; 'Thinking Towards Religions', P. 15.

समीचीन विवेचना प्रस्तुत करे। अर्थात् धार्मिक जीवन की महत्ता इन आरोपों के बावजूद भी है।

अब हमें धार्मिक जीवन में श्रद्धा का स्थान निर्देश करना है। श्रद्धा धार्मिक जीवन का एक अंश या पूर्णांश हो सकती है। धार्मिक जीवन पूर्णतः श्रद्धालु जीवन है। या धार्मिक जीवन का एक अंग श्रद्धा है। इस प्रश्न का समाधान तभी हो सकेगा जब धार्मिक जीवन और श्रद्धा का अर्थ स्पष्ट कर लिया जाय।

धार्मिक जीवन क्या है ?

बिना हृदय परिवर्तन के प्रातः स्नान, भजन-पूजन इत्यादि पाखंड है, यह धार्मिक जीवन नहीं है। धार्मिक जीवन दिखावा नहीं है। आन्तरिक पवित्रता और व्यवहार की मृदुलता का ही सामूहिक नाम धार्मिक जीवन है। मानव जीवन की सभी क्रियायें किसी न किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिये होती हैं। लेकिन यह उद्देश्य भिन्न भिन्न प्रकार का होता है। यदि किसी भौतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिये जीवन यापन किया जाय तो वह भौतिक जीवन कहलाता है, और यदि मानव का जीवन किसी राजनैतिक उद्देश्य प्राप्ति के निमित्त हो तो उसका जीवन राजनैतिक जीवन कहलायेगा। लेकिन यदि भौतिक जगत् से परे किसी आध्यात्मिक उद्देश्य की पूर्ति के लिये मानव अपना जीवन व्यतीत करे तो उसका जीवन धार्मिक जीवन कहलायेगा। धार्मिक जीवन का उद्देश्य किसी आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति है। यहां उद्देश्य चरम-लक्ष्य (Ultimate object) के अर्थ में लिया गया है। धार्मिक जीवन दो मान्यताओं पर आधारित है। सर्वप्रथम यह मानव को भौतिकवादियों की तरह केवल भौतिक तत्वों का सम्मिश्रण मात्र नहीं मानता है। मानव वास्तव में ईश्वर का ही एक रूप है। उपनिषदों में भी कहा गया है, 'तत् त्वम् असि'।⁹ यहां 'त्वम्' का प्रयोग आत्मा के लिये किया गया है, जो नैसर्गिक है। धार्मिक जीवन की दूसरी मान्यता यह है कि बौद्धिक होने के कारण मानव पशुओं से श्रेष्ठ है। अपनी बौद्धिकता और ईश्वरत्व को भूल कर जब मनुष्य शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति में संलग्न हो जाता है तो उसका जीवन पशुवत् हो जाता है। लेकिन जब उसे अपनी बौद्धिकता का ज्ञान होता है तो वह अपने जीवन से असन्तुष्ट हो उठता है। वह शान्ति, आनन्द की खोज करने लगता है। वह एक ऐसे सत्य का पता लगाना चाहता है जिसे प्राप्त कर उसे वास्तविक आनन्द मिल सके। सत्य की इस खोज में बुद्धि और विवेक उसे सहारा देते हैं। सत्य की खोज ही दर्शन है। सत्य का दर्शन ही मानव को धार्मिक बना देता है। धार्मिक व्यक्ति के लिये यह सत्य स्फूर्तिदायक होता है।¹⁰ सत्य का ज्ञान होते ही उसके जीवन में हलचल मच जाती है। वह इस सत्य के अनुकूल ही अपने जीवन को ढालना चाहता है। सत्य को आत्मसात् करना ही धार्मिक जीवन है।

श्रद्धा का अर्थ:—

सत्य को आत्मसात् करना बिना श्रद्धा के सम्भव नहीं है। श्रद्धा मानव की उस प्रकृति

9. Chhandogya Upanishad, VI. VII 7.

10. Royce; Religious Aspects of Philosophy P. 8.

की द्योतक है जिसके विशिष्ट गुण ज्ञानजन्य नम्रता और अटूट विश्वास हैं। बिना ज्ञान के विनयशीलता श्रद्धा नहीं है। ज्ञानी अपने ज्ञान का दंभ नहीं करते। वे नम्र हो जाते हैं। वे सत्य का सम्मान करते हैं। सत्य में उनका अटूट विश्वास रहता है।

ऋग्वेद में श्रद्धा को एक बहिरस्थ देवी के रूप में कल्पित किया गया है। ऋषि यज्ञ या भक्ति के निमित्त उसकी उपासना करता है।

किन्तु श्रद्धा की केवल बहिरस्थ सत्ता नहीं है। श्रद्धा मानव का आन्तरिक गुण भी है। जैसाकि ऋग्वेद में ही कहा गया है—‘श्रद्धयाग्निं समिधयते, श्रद्धया हूयते इविः’^{११} सायनाचार्य ने उक्त सूक्त की टीका करते हुए बतलाया है कि श्रद्धा मानव का विशिष्ट गुण है। ‘पुरुष-गतोऽभिलाष विशेषः श्रद्धा’। वेदान्तसार में गुरु द्वारा बताये गये वेदान्त-वाक्यों में विश्वास ही श्रद्धा है, ‘गुरूपदिष्ट वेदान्तवाक्येषु विश्वासः श्रद्धा’। शिष्य शिष्य की शंकाओं का समाधान करने के लिये हमेशा तत्पर रहते हैं, वशर्ते कि शिष्य में ज्ञान प्राप्ति की सच्ची लगन हो।

इस प्रकार श्रद्धा एक ओर तो हमारे आन्तरिक भाव को बतलाती है और दूसरी ओर इस आन्तरिक भाव की अभिव्यक्ति, जो हमारे व्यवहार में होती है, उसकी भी द्योतक है।

धार्मिक जीवन में श्रद्धा

सत्य को आत्मसात् करना ही धार्मिक जीवन है, लेकिन सत्य को जीवन में उतारना सहज नहीं है। यह तभी सम्भव हो सकता है जब हमें सत्य का ज्ञान हो। और किसी भी प्रकार का ज्ञान हमें तभी मिल सकता है जब हमें गुरु या ज्ञान देने वाले की योग्यता में विश्वास हो। बिना श्रद्धा के ज्ञान नहीं मिल सकता है। गुरु में जब श्रद्धा रहेगी तो हम उनके द्वारा बताये गये राह पर चलेंगे। गुरु की बातों में अन्धास्था नहीं रखनी है। बुद्धि और तर्क द्वारा हम उनपर मनन चिंतन करेंगे। किन्तु केवल बुद्धि और तर्क हमारा साथ हमेशा नहीं दे सकेंगे। बुद्धि और तर्क द्वारा हमें विश्वास दिलाया जा सकता है कि अमुक वस्तु सत्य है। लेकिन वह विश्वास हमारे जीवन को बदल देगा, यह आवश्यक नहीं है। धार्मिक जीवन के लिये सत्य में ऐसी आस्था की आवश्यकता है जो हमारे जीवन को उचित मोड़ दे सके। यह केवल तर्क या बुद्धि द्वारा सम्भव नहीं है। जैसाकि Schulweis ने भी कहा है, श्रद्धा में जो आस्था रहती है वह हमारे जीवन को बिल्कुल बदल देने वाली होती है। ईश्वर में ऐसी आस्था या श्रद्धा तभी हो सकती है जब हमें उसका पूर्णज्ञान किसी भी प्रकार हो जाय।^{१२} बौद्धिक ज्ञान की अपनी सीमाएँ हैं, जैसाकि पॉल रूबिजेक ने भी कहा है—“हमारे अनुसन्धान से यह स्पष्ट है कि श्रद्धा के लिये स्थान है, क्योंकि वस्तु तत्त्व के अनेक ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ ज्ञान का प्रवेश संभव नहीं है।”^{१३} ईश्वर का साक्षात्कार या पूर्णज्ञान होने पर ही हम

11. ऋग्वेद, १०. १२१.

12. Bronstein and Schulweis: ‘Approaches to the Philosophy of Religion’ P. 225.

13 Roubiczek, Paul: ‘Thinking Towards Religion’ P. 166

उसको प्राप्त करने के लिये व्यग्र हो उठते हैं। सत्य का ज्ञान हुए बिना सत्य को आत्मसात् करने का प्रयास ही नहीं हो सकता। धार्मिक जीवन का आरम्भ, मध्य और अन्त श्रद्धा ही है। जैसाकि गीता में कहा गया है:—

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं, तत्परः संयतेन्द्रियः

ज्ञान लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ।^{१४}

धर्म के पथ पर अग्रसर होने वाला व्यक्ति इन्द्रियों को संयत् कर परमज्ञान द्वारा उस शान्ति को प्राप्त होता है, जो बुद्धि की सीमा से परे है और जो धार्मिक जीवन का अन्तिम लक्ष्य है।

अतः स्पष्ट है कि श्रद्धा धार्मिक जीवन का एक अंग नहीं हो सकता है क्योंकि धार्मिक व्यक्ति के लिये साधन, सत्य और जीवन में कोई भी भेद नहीं है। जिससे क्राईस्ट ने भी कहा था, “मैं ही साधन हूँ, मैं ही सत्य तथा जीवन हूँ।” इसी सुर में धार्मिक व्यक्ति के सम्बन्ध में विलियम टेम्पुल ने भी कहा है, ‘धार्मिक व्यक्ति के लिये, अनिवार्यतः, धर्म उपयोग्य वस्तु नहीं रह जाता, प्रत्युत ऐसी वस्तु हो जाता है जोकि उसका उपयोग करता है।’^{१५}

पटना विश्वविद्यालय, पटना।

पुस्तक-समीक्षा

फिलासफी आफ श्री अरविन्द, लेखक डा० रामनाथ शर्मा, पृष्ठ १८८,
प्रकाशक केदारनाथ रामनाथ, मेरठ, मूल्य ७-०० ।

इस पुस्तक में श्री रामनाथ शर्मा ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि श्री अरविन्द का दर्शन आधुनिक भारतीय चिन्तन में एक मौलिक देन है, और अपने इस प्रयत्न में वे सफल भी रहे हैं। लेखक ने इस बात को भी सिद्ध कर दिया है कि अरविन्द के दर्शन ने ऐसी शाश्वत समस्याएँ, जैसे अध्यात्मवाद व भौतिकवाद, अथवा इन के आधार पर सृष्टि की उत्पत्ति और विकास, तथा मानव जीवन के महत्व इत्यादि को सुलझा कर रख दिया है। यह पुस्तक उनका अपने डी० फिल० का गवेषणा प्रबन्ध है। पुस्तक का प्रथम संस्करण १९६० में छपा था और द्वितीय १९६३ में। यह इस पुस्तक की लोकप्रियता का द्योतक है। पुस्तक ११ अध्यायों में विभाजित है और उसकी सामग्री को भली प्रकार से क्रम-बद्ध किया गया है। पुस्तक पर एक विहगम दृष्टि डालने से अनुभव हो जाता है कि विषय के गम्भीर्य को डा० शर्मा ने कितनी सुगमता के साथ प्रदर्शित किया है। उन्होंने अरविन्द के विचारों की पाश्चात्य चिन्तन से भी तुलना की है और इससे पुस्तक की सामयिकता और भी बढ़ गयी है। आज के युग में जबकि संसार के ज्ञान-स्रोत को नयी नयी खोज के आधार पर एकत्रित करके अध्ययन करने की आवश्यकता अनुभव की जा रही है, ऐसी पुस्तकें बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। पुस्तक के आरम्भ में लेखक ने दर्शन की गूढ़ समस्याओं पर सामान्य रूप से विचार किया है और फिर दर्शन व जीवन का महत्व, ज्ञान और सत्य का स्तर, दार्शनिक अध्ययन की विधि, ब्रह्म व ईश्वर का सम्बन्ध, आत्मा व व्यक्तित्व, जगत् प्रपञ्च, सृष्टि व विकासवाद, आत्मिक अनुभव व धार्मिक श्रद्धा, ऋषि अरविन्द का योग सिद्धान्त व मानव का विकास आदि विषयों का पाश्चात्य सिद्धान्तों के साथ तुलनात्मक विवेचन किया है और अरविन्द के दृष्टिकोण से उनकी आलोचना भी की है। पुस्तक के विषयों का क्रम बहुत आकर्षक है, जिससे उनमें पर्याप्त गहराई आ गयी है। समस्याओं का तुलनात्मक विवरण करने में लेखक बहुत ही सूक्ष्म बुद्धि और न्याययुक्त है। तमाम पाश्चात्य दृष्टिकोणों का मूल्यांकन निष्पक्ष रूप से करके श्री अरविन्द के सिद्धान्त को सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। इससे यह प्रदर्शित होता है कि श्री शर्मा जी का न केवल पाश्चात्य विचारधारा का समुचित अध्ययन है बल्कि वह अपने विषय में भी पारंगत हैं। यह पुस्तक न केवल उन लोगों के लिए लाभदायक है जो श्री अरविन्द के दृष्टिकोण को भली प्रकार समझना चाहते हैं अपितु उन लोगों के लिए भी जो पाश्चात्य दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन करना चाहते हैं। लेखक का मुख्य उद्देश्य उसके इस वाक्य से स्पष्ट हो जाता है—अपने समस्त अनुशासन और अभ्यास के साथ भारतीय पुरातन दार्शनिक दृष्टिकोण को पुनर्जीवित करने की बड़ी आवश्यकता है (पृष्ठ-५)। अन्ततः पुस्तक में इसी उद्देश्य का पता लगता है। विकासवाद की समस्त विचारधाराओं, अर्थात् डार्विन, अलैगज़ेंडर, व्हाइटहेड व हेगल इत्यादि के दुर्बल पक्ष को अभिव्यक्त करके उनकी आलोचना की गयी है। सच्चिदानन्द के आध्यात्मिक स्वरूप व भौतिकवाद के ऊर्जा-सिद्धान्त का भली प्रकार से एकाग्र करके इस सिद्धान्त की पुष्टि की गयी है कि विकासवाद आध्यात्मिक है और व्यक्तित्व

का विकास योग के आधार पर होता है। संक्षेप में, यह पुस्तक तुलनात्मक अध्ययन के दृष्टिकोण से अत्यन्त लाभदायक है।

हिम्मत सिन्हा
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय

समाज मनोविज्ञान की रूपरेखा, लेखक डा० रामनाथ शर्मा,
प्रकाशक केदारनाथ रामनाथ, मेरठ, प्रथम संस्करण १९६३।

पुस्तक में समाज मनोविज्ञान के विषय को भली भाँति पर्यालोचित किया गया है। भूमिका स्थापित करने वाले अध्यायों के अतिरिक्त जहाँ एक ओर मूलप्रवृत्ति, विवेक व संकल्प, संकेत, अनुकरण, सहानुभूति, समूह मन जैसे परम्परागत अध्याय हैं वहाँ व्यक्तित्व व संस्कृति, समाजीकरण, समुदाय-समिति आदि, मनोवृत्ति, पूर्वधारणा, जनता, नेतृत्व तथा भीड़ जैसे सामान्य अध्यायों को लेकर सामूहिक तनाव व सामाजिक संघर्ष, अन्तर्राष्ट्रीय तनाव, सामाजिक परिवर्तन व प्रगति, जनतन्त्र की समस्याएँ व प्रजातिवाद जैसे एकदम वर्तमान चर्चित समस्याओं का विवेचन भी किया गया है। पुस्तक की भाषा सरल व सुबोध है। पाठ्य पुस्तक की दृष्टि से पुस्तक का स्वरूप अच्छा है।

पुस्तक में विभिन्न प्रकार के मतों को देने का प्रयास किया गया है जिससे सामान्य विद्यार्थी को मनोविज्ञान में मत-वैभिन्न्य का बोध हो सकता है। किन्तु, उनके निष्कर्षों की उचित स्थिति का स्पष्टीकरण अधिक होना चाहिए अन्यथा आरम्भिक विद्यार्थी को यह विवरण वैभिन्न्य भ्रामक हो सकता है। पुस्तक में यह कह देना, कि प्रयोग के आधार पर अमुक निष्कर्ष निकला और प्रयोग का संक्षिप्त विवरण भी न देना, कुछ गम्भीर अध्ययन में खलता है।

समाज मनोविज्ञान के परम्परागत विषयों के बारे में बहुत सारा उपलब्ध ज्ञान नये विद्यार्थी को देने में पुस्तक सहायक है। पुस्तक भारतीय विश्वविद्यालय के छात्रों की आवश्यकता की अच्छी तरह पूर्ति कर सकती थी यदि यह भी संकेत दिया गया होता कि कतिपय विषयों, जैसे संकेत, अनुकरण, संकल्प, प्रवृत्ति आदि व्यवहार प्रत्ययों को भी विश्लेषण का विषय बनाया जा सकता है और व्यवहार की कुछ प्रारम्भिक इकाइयों व प्रक्रियाओं को ही आधार बनाया जा सकता है।

कुछ सामयिक समस्याओं का अच्छा विवेचन किया गया है। स्नातक कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए विषयों से सम्बन्धित सभी महत्वपूर्ण पक्षों की जानकारी मिल जाती है। अवांछित मानसिक प्रतिक्रियाओं व प्रतिमाओं के निराकरण के लिए कुछ व्यावहारिक सुझाव भी देने से अध्ययन की उपयोगिता अधिक स्पष्ट की जा सकती थी।

विषय सामग्री का विवरण विस्तृत तो नहीं कहा जा सकता लेकिन पुस्तक मुख्य रूप से स्नातक कक्षाओं के लिए लिखी गई है इस उद्देश्य से सामग्री पर्याप्त है। लेखक का प्रयास सराहनीय अवश्य है।

टी. पी. घपोला
काशी विद्यापीठ,

Research Journal of Philosophy & Social Sciences.

An International Bi-annual of Philosophy, Psychology, Sociology & Education. Published in October & March. Each issue contains about 200 pages on a particular subject.

Chief Editor: Dr. Ram Nath Sharma, Meerut College, Meerut (U.P.) India.

Editorial Board: Gardner Murphy (U. S. A.), R. H. Thouless, (Australia), H.H. Price (U.K.), B. L. Atreya (India) and more than a dozen scholars from different foreign countries.

Board of Representative: Consists representative scholars from a large number of Indian and foreign universities.

Vol. I. No. I. PARA PSYCHOLOGY OF YAGA Oct. 1963.

Contains about two dozen articles including contributions from eminent Indian and foreign scholars.

Hard cover, cloth Bound Book from of the first issue with a forward from J. B. Rhine available.

Annual subscription Rates: —

			Rs	Sh.	Dollars	Fr.
For Institutions	15-00	20	3.50	1500
For Individuals	10-00	13	2.40	1000

Life Membership: Ten years subscription in advance.

Publishers: M/s. Kedar Nath Ram Nath, Meerut (U.P.) India.

परिषद्-प्रकाशन

- | | |
|-------------------------------------------------------------------------------|------------|
| १. बौद्ध दर्शन तथा उसका विकास — प्रो. पी. टी. राज | मूल्य १-५० |
| २. अनुभववाद — सं. यशदेव शल्य | मू० ५-५० |
| ३. दार्शनिक विश्लेषण — यशदेव शल्य | मू० १२-०० |
| ४. समकालीन भारतीय दर्शन — सं. प्रो. के. सच्चिदानन्द मूर्ति | मू० १२-०० |
| ५. भारतीय मनोविज्ञान — सं. नारायण शास्त्री द्राविड़ | मू० ६-०० |
| ६. नृतत्व तथा समाज दर्शन — सं. दयाकृष्ण, सीता राम गोयल,
यशदेव शल्य | मू० ८-०० |
| ७. दार्शनिक त्रैमासिक — जन्वरी १९५५ में स्थापित, सं. यशदेव शल्य, वा.शु. १०-०० | |

यश देव शल्य द्वारा अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, फरीदकोट (पंजाब) की ओर से प्रकाशित
तथा गुरु अमृत प्रेस, फरीदकोट में मुद्रित ।